भाग ६

अमृतवाणी

गूढ़ पदों के सन्देश

स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज

अमृतवाणी

सन्तों के गूढ़ पदों के सन्देश

भाग – 6

पूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज के
मुखारविन्द से निःसृत अमृतवाणियों का संकलन

लेखक–
स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज
श्री परमहंस आश्रम, शक्तेषगढ़, जिला– मीरजापुर
उत्तर प्रदेश, भारत

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो इस्टेट, गाला नं- 5, मोगरा लेन (रेलवे सब-वे के पास)
अंधेरी (पूर्व), मुम्बई - 400069, भारत

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया-चित्रकूट

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

अन्त:प्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्‌गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्‌गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्‌गुरु.........भारी।।

।। ॐ ।।

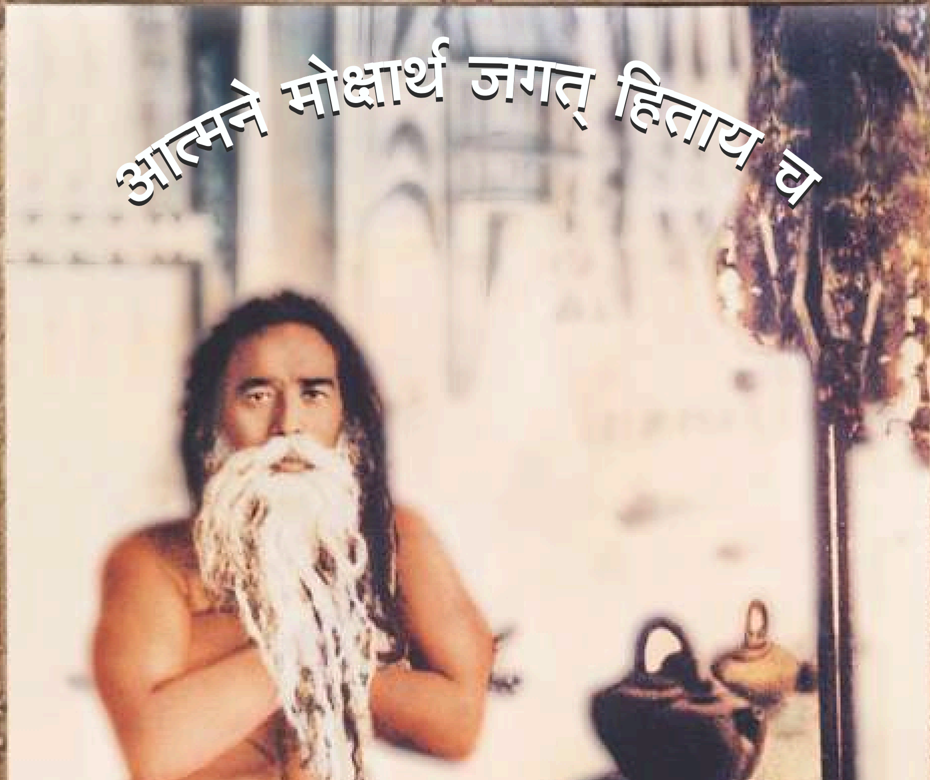

श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (सन् १९११ ई०)

महाप्रयाण : ज्येष्ठ शुक्ल ७, वि०सं० २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई०

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

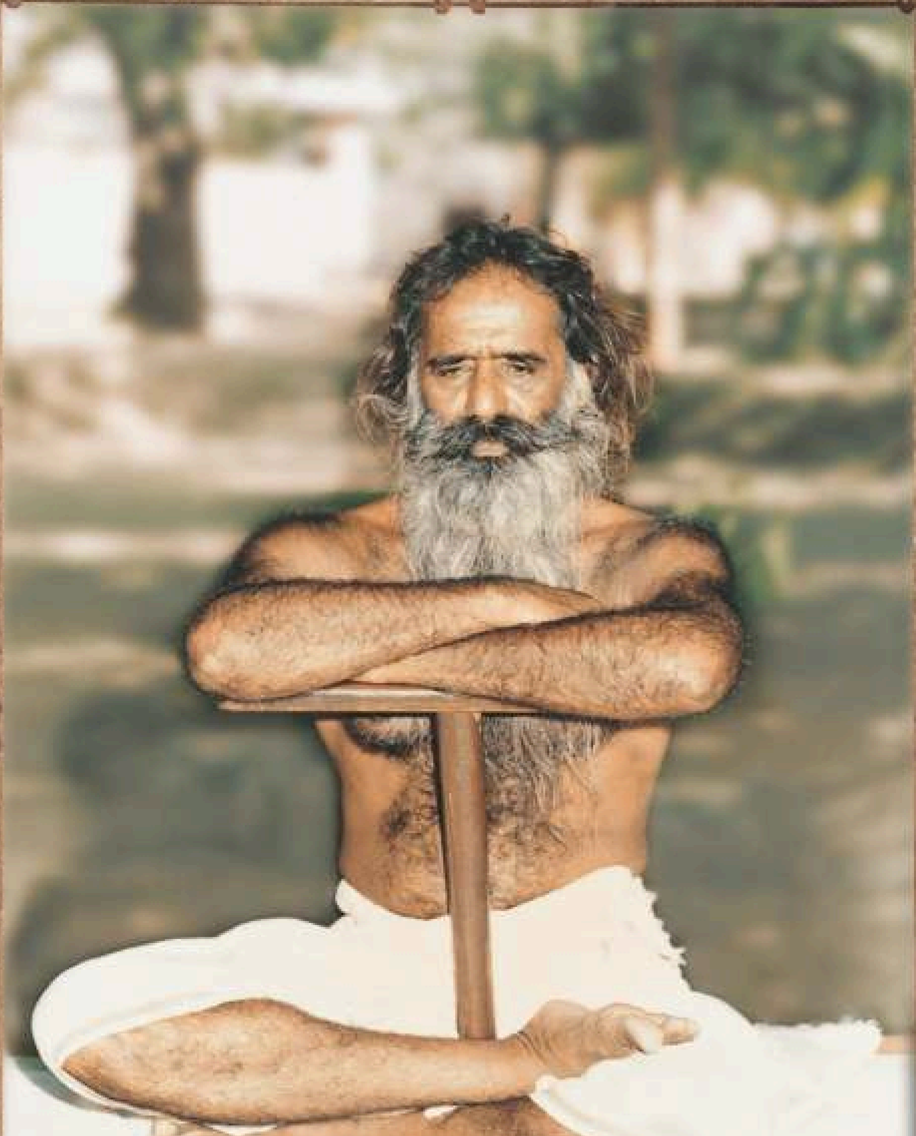

श्री स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज

(परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद)

निवेदन

धर्मानुरागी बहनो तथा भाइयो!

गुरुकृपारूपी अमृतवाणी के इस षष्टम पुष्प में प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषों के कतिपय गूढ़ एवं साधनोपयोगी पदों का संकलन है, जिनमें साधनात्मक समस्याओं को इस कौशल से प्रस्तुत किया गया है कि अधिकारी समझ लें और साधना में प्रवृत्त हो जायँ।

लोग भजन करते हैं किन्तु कहते हैं कि मन नहीं लगता। सन्त कबीर भी यही कहते हैं कि आरम्भ में भजन में आनन्द नहीं मिलता किन्तु भजन करते-करते चित्तवृत्ति संकल्प-विकल्प से हटकर शून्य में स्थिर होने लगती है। यदि यह आधा मिनट भी शून्य में प्रवेश पा जाय तो चित्त यद्यपि अभी आकाशवत् तो नहीं हुआ लेकिन वह आकाश की गुफा में स्थान पा जाता है जहाँ भजन का आनन्द-स्रोत ब्रह्मपीयूष मिलने लगता है। जहाँ एक बार यह आनन्द मिला तो प्राप्तिपर्यन्त अनवरत मिलता ही चला जाता है। यही है **'रस गगन गुफा में अजर झरै'**।

दूसरे भजन में सन्त कबीर कहते हैं– **'अब हम दोनों कुल उजियारी।'** संसार में नारियों का कार्यक्षेत्र दो कुलों में होता है– मायका और ससुराल। इसी प्रकार अध्यात्म में सगुण और निर्गुण दो कुल हैं। जिनके लिए समाज में एक भ्रान्ति है कि साधक सगुणोपासक हो या निर्गुणोपासक– यह महापुरुष बताते हैं कि भजन जब हृदय से जागृत होता है, तब से सगुण की शुरुआत है। उन्हीं भगवान के संरक्षण में चलकर परमात्मा का दर्शन, स्पर्श, प्रवेश और स्थिति के पश्चात् साधक गुणातीत हो जाता है। उस समय सगुण कहलानेवाला भगवान और निर्गुण ब्रह्म दोनों ही उसके सम्मुख हैं। कबीर कहते हैं– दोनों ही मुझमें प्रकाशित हैं और अगली पीढ़ियाँ मुझसे ही प्रकाश पायेंगी।

संसार में बार-बार जन्म और बार-बार मृत्यु होती है। इस दुहराने का नाम ही तो दुनिया है। भगवान श्रीकृष्ण गीता *(2/40)* में कहते हैं कि ईश्वर-पथ में नियत कर्म का स्वल्प अभ्यास भी जन्म-मृत्यु के महान भय से छुटकारा दिलाकर ही शान्त होता है, इसे दुबारा करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यही है **'अनेकों प्रश्न ऐसे हैं जो दुहराये नहीं जाते।'**

'दुःखालयमशाश्वतम्' ***(गीता, 8/15)***– इस संसार में सुख-दुःख आते ही रहते हैं। संसार में कोई मनुष्य विपदा में पड़ गया तो उसका उपहास

नहीं करना चाहिए। इसी संदेश के साथ प्रस्तुत है पद **'तोड़ना टूटे हुए दिल को बुरा होता है।'**

महात्माओं की लोकेतर शक्तियों को लेकर संसार में अनेक भ्रान्तियाँ हैं जिसे सन्त कबीर ने स्पष्ट किया है कि वास्तव में सिद्धि क्या है? **'सिद्ध है सोइ अतीत कहावै'**- यह भजन साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है जिसमें योग-साधना की अनेकानेक जिज्ञासाओं का समाधान लौकिक उदाहरणों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

एक अत्यन्त प्रचलित प्रेरणादायक भजन है– **'पायो जी, मैंने नाम रतन धन पायो।'** नाम तो किताबों में लिखा रहता है, नाम-संकीर्तन होता ही रहता है। यह भूला ही कब था जो हम पा गये? वस्तुतः नाम एक जागृति है जो सद्‌गुरु के द्वारा होती है। यह जागृति कैसे होती है?– इसके लिए देखें माता मीरा का यह भजन!

गोस्वामी तुलसीदासजी का उद्बोधन **'राम कहत चलु भाई रे'** प्रत्येक सद्‌गृहस्थ के लिए उपयोगी है। मन सदैव कुछ न कुछ करता ही रहता है। यह कभी शान्त नहीं बैठता, इसलिए इसे नाम-जप में लगा दें अन्यथा आवागमन से छूटना कठिन हो जायेगा।

अन्तिम पद में सन्त कबीर बताते हैं कि सारी साधना पूरे सद्‌गुरु से उपलब्ध होती है। सद्‌गुरु एक व्यापारी-जैसे हैं। सबकी दुकान तो नगर-महानगर या बाजार में लगती है लेकिन इन महापुरुषों की दुकान जन-कोलाहल से बहुत दूर दुर्गम पहाड़ों या बीहड़ वनों के शान्त एकान्त में होती है। सद्‌गुरु यह देन सम्पूर्ण समाज को देने के लिए प्रस्तुत हैं किन्तु भाग्यवान पुण्यात्मा ही उनसे आत्मतत्त्व की साधना ग्रहण कर पाते हैं।

सारांशतः इन पदों की चार–छः पंक्तियों में ही पूरी साधना निखरकर सामने आ गयी है। आप एक भी भजन गुनगुनायेंगे तो भजन में मन लग जायेगा। कतिपय भजन अटपटे प्रतीत होते हैं किन्तु दो-चार बार विधिवत् समझ लेने से स्पष्ट हो जायेगा कि यही सम्पूर्ण साधना-पद्धति है, यह तो सद्‌गुरु की वाणी है; साधना होने लगेगी। इसी प्रेरणा के साथ....

– प्रकाशक

अनुक्रमणिका

क्रमांक	पद	पृष्ठ संख्या
1.	रस गगन गुफा से अजर झरै	1
2.	अब हम दोनों कुल उजियारी	11
3.	अनेकों प्रश्न ऐसे हैं जो दुहराये नहीं जाते	30
4.	तोड़ना टूटे हुए दिल को बुरा होता है	46
5.	सिद्ध है सोइ अतीत कहावै	65
6.	पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो	87
7.	राम कहत चलु भाई रे	105
8.	सद्गुरु की हाट अलग लागी	124

।। ॐ ।।

ॐ

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥8/12॥

सब इन्द्रियों के दरवाजों को रोककर अर्थात् वासनाओं से अलग रहकर, मन को हृदय में स्थित करके (ध्यान हृदय में ही धरा जाता है, बाहर नहीं। पूजा बाहर नहीं होती), प्राण अर्थात् अन्तःकरण के व्यापार को मस्तिष्क में निरोधकर योग-धारणा में स्थित होकर (योग को धारण किये रहना है, दूसरा तरीका नहीं है)–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥8/13॥

जो पुरुष **'ओम् इति'**– ओम् इतना ही, जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, इसका जप तथा मेरा स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण एक योगेश्वर, परमतत्त्व में स्थित महापुरुष, सद्गुरु थे। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि 'ओम्' अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, तू इसका जप कर और ध्यान मेरा कर। प्राप्ति के हर महापुरुष का नाम वही होता है जिसे वह प्राप्त है, जिसमें वह विलय है इसलिये नाम ओम् बताया और रूप अपना। योगेश्वर ने 'कृष्ण-कृष्ण' जपने का निर्देश नहीं दिया लेकिन कालान्तर में भावुकों ने उनका भी नाम जपना आरम्भ कर दिया और अपनी श्रद्धा के अनुसार उसका फल भी पाते हैं; जैसा कि, मनुष्य की श्रद्धा जहाँ टिक जाती है वहाँ मैं ही उसकी श्रद्धा को पुष्ट करता तथा मैं ही फल का विधान भी करता हूँ।

*(**'यथार्थ गीता'** से उद्धृत)*

रस गगन गुफा में अजर झरै

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिनु बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरे॥
रस गगन.....

बिना ताल जहँ कँवल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चन्दा उजियारी दरसे जहँ तहँ हंसा नजर परै॥
रस गगन.....

दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
जुगन जुगन की तृषा बुझानी, करम भरम अघ व्याधि टरै॥
रस गगन.....

काल कराल निकट नहिं आवै, काम-क्रोध-मद-लोभ जरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै॥
रस गगन.....

कबीर का यह पद बड़े काम का है। लोग भजन करते हैं तो कहते हैं– आनन्द नहीं आता है, भजन से कुछ मिलते दीखता नहीं है, मन नहीं लगता। सन्त महापुरुष कहते हैं कि भगवान के रास्ते में अनन्त सुख है, लेकिन यहाँ तो दुःख ही दुःख है। कुछ समझ में ही नहीं आ रहा है। सन्त कबीर आरम्भिक साधकों की इस समस्या से अवगत हैं। वह आश्वासन देते हैं कि भजन में आनन्द मिलेगा लेकिन साधना की एक सीढ़ी, एक निश्चित दूरी तय कर लेने के पश्चात्! यह दूरी तय होती है नाम-जप से, सद्गुरु की सेवा से। श्रद्धापूर्वक इन्हें करने से भजन जागृत हो उठता है और भजन जागृत होते ही साधक में ब्रह्म-पीयूष का संचार शुरू हो जाता है, जिसके लिए उन्होंने कहा–

रस गगन गुफा में अजर झरै।

गगन गुफा में रस की अजस्र वर्षा होती रहती है। आध्यात्मिक परिवेश में एक ओर संसाररूपी समुद्र है जिसमें विषयरूपी जल भरा हुआ है, तो दूसरी ओर भगवान भी आनन्द-सिन्धु हैं। गोस्वामीजी के शब्दों में–

आनँद-सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा।।
मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी।।

(विनयपत्रिका, 136)

कदाचित् आनन्द का यह स्रोत प्राप्त हो जाय तो यह मनरूपी मृग विषय-वारिरूपी मृगतृष्णा में क्यों दौड़ेगा? इसी अमृत-रस के लिये संत कबीर प्रोत्साहित करते हैं–

बिना पियाला अमृत अचवै नदी नीर भरि राखै।
कह कबीर सो जुग-जुग जीवे राम सुधा रस चाखै।
सन्तो! जागत नींद न कीजै।।

कबीर कहते हैं– यह **'राम सुधा रस'**– ब्रह्म-पीयूष **'गगन गुफा में अजर झरै'**– गगन गुफा से निरन्तर गिरता रहता है। गगन कहते हैं आकाश को, शून्य या पोल को। अध्यात्म में आकाश का आशय है जब मन संकल्प-विकल्परहित, शून्यवत् हो जाय, संस्कारों की भीड़ कम हो जाय। इस शहर में लाखों लोगों की भीड़ है किन्तु आपके मन में उससे भी अधिक संकल्पों की भीड़ है, लहर है, ताँता लगा है। यह भीड़ शान्त हो जाय, मन संकल्प-विकल्प से रहित शून्य में टिकने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, उस क्षण वह आकाश के कोने में उसकी कन्दरा में प्रवेश पा गया। मन अभी आकाशवत् निर्लेप तो नहीं हुआ लेकिन आकाश के एक कोने में गगन-गुफा में प्रवेश पा गया। न भीतर से संकल्पों का अभ्युदय हो और न वाह्य वायुमण्डल के संकल्प ही मन ग्रहण करे, जहाँ चिन्तन करते-करते यह अवस्था आयी, चित्त संकल्प-विकल्प से रहित शून्य में स्थिर हुआ तत्क्षण ब्रह्मपीयूष का संचार मिल जाता है। यह एक बार जागृत हो गया तो अजस्र प्रवाहित रहता है, उसका क्रम कभी नहीं टूटता। संसार के अधिकांश झरने बरसात में प्रवाहित हो जाते हैं किन्तु ग्रीष्म ऋतु में सूख जाते हैं। यह गगन गुफा का स्रोत अजस्र, अनवरत, अविरल प्रवाहित रहता है, इसका क्रम कभी टूटता ही नहीं। आप

सो जायँ किन्तु आपके भीतर वह झरना चलता रहेगा। इस झरने की एक विशेषता और भी है–

'बिन बाजा झनकार उठै जहँ'

उस गगन गुफा में बिना किसी वाद्य के एक झनकार उठा करती है किन्तु **'समुझि परै जब ध्यान धरै।'**– वह झनकार तभी समझ में आयेगी जब आप ध्यान धरने लगें। ध्यान धरते-धरते चित्त शून्य में टिकने की क्षमता पा जाता है। इसके साथ ही रिनक-धिनक धुन अपने से उठने लगती है। एक बार नाम में सूरत लगा भर दें तो ओम्-ओम्-ओम् की एक धुन प्रवाहित हो जाती है। भजन अनिवार्य है, करने से ही यह समझ में आता है। उस गगन गुफा में और कैसा दृश्य है?

'बिना ताल जहँ कँवल फुलाने'

बिना सरोवर के वहाँ कमल खिलते हैं। कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है इसलिए इसे पंकज भी कहते हैं। यह जल में रहता है। बार-बार पानी की लहरें इसके ऊपर से आती-जाती हैं फिर भी कमल के पत्र और पंखुड़ी पर जल नहीं ठहरता, इसे गीला नहीं कर पाता। कीचड़ में रहते हुए भी उससे निर्लेप रहता है। महापुरुषों ने साधक के संयत चित्त की तुलना कमल से की है। गीता में है– **'पद्मपत्रमिवाम्भसा'** *(5/10)*। नाथ-पंथ से अनुप्राणित योग-ग्रन्थों में शरीर के भीतर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार के रूप में चक्रों की मान्यता है जहाँ क्रमशः चार, छः, दस, बारह, सोलह, दो तथा सहस्र पंखुड़ियोंवाले कमल के ऊर्ध्वमुखी खिलने की बात कही जाती है जो सब-के-सब योग के रूपक हैं, चित्त को अन्तर्मुखी करने के प्रयास मात्र हैं।

उदाहरण के लिए मेरुदण्ड के नीचे मूलाधार में चतुर्दल कमल की मान्यता है। यह चार दल अन्तःकरण चतुष्टय– मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का प्रतीक है। पहले इस स्थल पर स्थित कमल की पँखुड़ियाँ अधोमुखी रहती हैं, विषयोन्मुख प्रवाहित हैं। साधना के द्वारा सिमटकर यह चारों ऊर्ध्वमुखी हो जायँ, इष्टोन्मुखी प्रवाहित हो जायँ– यही इस चतुर्दल कमल का खिलना

है, इसकी पंखुड़ियों का ऊर्ध्वमुखी हो जाना है। जब इनका मुख नीचे की ओर था, यह मल में थीं; अब इष्ट की ओर होने से निर्मल हो गयीं। साधक अभी यद्यपि संसार में ही है किन्तु उसमें संसार से अलिप्त रहने की क्षमता आ गयी। यहीं से भजन आरम्भ होता है इसलिए इसे मूलबंध भी कहा जाता है।

मूलाधार से उन्नत अवस्था में स्वाधिष्ठान चक्र है। स्व का अर्थ है आप स्वयं और अधिष्ठान का अर्थ है निवास अर्थात् अपने स्वरूप के प्रति आस्था सुदृढ़ हो गयी। उस समय अधोमुखी षट्दल– षट्विकार– काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर हैं। ऊर्ध्वमुखी होने पर यही षडैश्वर्य– विवेक, वैराग्य, शम, दम, तप और तितिक्षा में परिणित हो जाते हैं। यही कमल का खिलना है। इससे उन्नत अवस्था में मणिपूर में दस दल कमल ऊर्ध्वमुखी होकर खिल जाता है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ इष्टोन्मुखी हो जाती हैं, उस समय श्वास में उठनेवाला एक-एक नाम मणि की संज्ञा पा जाता है। कुछेक की मान्यता है कि मणिपूर में कमल अष्टदल का है अर्थात् अष्टधा मूल प्रकृति अष्टसिद्धि में परिणत हो जाती है। इससे उन्नत अनाहत चक्र में द्वादश दल के कमल के ऊर्ध्वमुखी होकर खिलने की अवस्था आती है अर्थात् दसों इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि संयत हो जाते हैं। विशुद्ध चक्र में सोलह दल का कमल है। पंचमहाभूतों से निर्मित स्थूल शरीर के भीतर सोलह उपादानों से निर्मित सूक्ष्म शरीर, जिसमें दस इन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण, तैजस और प्राज्ञ आते हैं, इनमें ईश्वरीय आभा प्रस्फुटित हो जाती है; सूक्ष्म शरीर भी विशुद्ध हो जाता है, साधक सख्यभाव को प्राप्त कर लेता है जहाँ कमल में केवल दो दल रह जाते हैं अर्थात् इस स्तर पर स्वामी और सेवक केवल दो आमने-सामने रह जाते हैं। अन्त में सहस्रार में सहस्र या अनन्त पंखुरियोंवाला कमल ऊर्ध्वमुखी हो खिल उठता है, चित्त की अनन्त वृत्तियों में से एक भी अधोमुखी नहीं रह जातीं। ऐसे सेवक को परमात्मा अपना लेते हैं, उस तन को अपना निवास बना लेते हैं। सन्तों ने चक्रभेदन की अपेक्षा भक्ति पर ही बल दिया जिसमें यह अवस्थायें स्वतः तथा सहज ही प्राप्त हो जाती हैं, मन के निरोध के साथ भगवान में स्थिति मिल जाती है। ये भिन्न-भिन्न दलोंवाले कमल यौगिक रूपक हैं, जहाँ तालाब तो नहीं है किन्तु कमल खिलते हैं।

'तहँ चढ़ि हंसा केलि करे।' इस ऊँचाई पर पहुँचकर हंस क्रीड़ा करने लगता है। गोस्वामी तुलसीदास संत की तुलना हंस से करते हैं–

संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।

(रामचरितमानस, 1/6)

विषय-विकाररूपी वारि का त्याग कर ईश्वरीय गुणरूपी दूध ही जिनका जीवन हो गया हो, वे सन्त हंस कहलाते हैं। मछली को जल से बाहर निकाल कर रखें; क्या वह जीवित रह सकेगी? इसी प्रकार हंस वे सन्त हैं। ईश्वरीय गुण के विपरीत वह जीवन धारण नहीं रख सकते। दूसरे शब्दों में जब सारे कमल, सभी वृत्तियाँ इष्टोन्मुखी विकसित हो गयीं, **'तहँ चढ़ि हंसा केलि करे'**– इस ऊँचाई पर साधना के पहुँचने पर आनन्द ही आनन्द है, मस्ती ही मस्ती है।

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(रामचरितमानस, 5/33/3)

भजन के सिवा उस सन्त को कुछ अच्छा लगता ही नहीं। भले ही उसके वस्त्र फटे-चिथड़े हों, कई-कई दिन उपवास में हों, उसकी मस्ती में कोई अन्तर पड़नेवाला नहीं है। उस गगन गुफा में–

बिनु चन्दा उजियारी दरसै, जहँ-जहँ हंसा नजर परै।

वहाँ बिना चन्द्रमा के ही उजाला रहता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। *(गीता, 2/69)*

इस जगत्‌रूपी रात्रि में सभी प्राणी निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। इनमें से संयमी पुरुष जग जाता है। यही रूपक रामचरितमानस में भी है–

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥

(रामचरितमानस, 2/92/2)

मोहरूपी रात्रि में सभी सो रहे हैं। जो दौड़-धूप कर रहे हैं मानो स्वप्न देख रहे हैं। उन्होंने कुछ एकत्र किया तो संसार को ही समेटकर इकट्ठा किया जो स्वप्नवत् है। **'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब**

सपना।।' *(रामचरितमानस, 3/38/5)* वह उस स्वप्न को ही घूम-फिरकर देख रहे हैं। जब साधक को इस जगत् में निर्लेप रहने की क्षमता आ गयी, ईश्वरीय मस्ती आ गयी तो जगत्‌रूपी रात्रि का घना अंधकार छटने लगता है। ईश्वर का सम्पूर्ण प्रकाश तो नहीं किन्तु क्षीण प्रकाश दिखायी देने लगता है। उस उजाले में दिखायी क्या देता है?

'जहँ तहँ हंसा नजर परै'– उस क्षीण प्रकाश में भी जहाँ कहीं भी उसकी दृष्टि जाती है, **'तुझमें मुझमें खड्ग खम्भ में'**– सर्वत्र उसे आराध्य देव का स्वरूप दिखायी पड़ने लगता है।

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।।
(रामचरितमानस, 2/130/7)

उसके लिए न तो स्वर्ग स्वर्ग के रूप में है जिसकी वह कामना करे; न नरक नरक के रूप है जिससे वह बचने का प्रयास करे। **'बिनु गोपाल ठौर नहिं कतहूँ नरक जात धौं काहे।'** उसने हर आत्मा को ईश्वर-पथ का पथिक पाया।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। *(गीता, 5/18)*

वे विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण में और उस चाण्डाल में जो एक सियार लटकाये हुए है, जाल पास में है; कुत्ता, गाय और हाथी में **'पण्डिताः समदर्शिनः'**– जो पण्डित हैं, उस पथ के पूर्ण ज्ञाता हैं जिन्हें ईश्वरीय अनुभूति का संचार प्राप्त है– इन सबमें वह समान दृष्टिवाले होते हैं। उनके लिये विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण न कोई विशेषता रखता है न चाण्डाल कोई हीनता रखता है; न कुत्ता अधर्म है और न गाय धर्म है; क्योंकि उनकी जहाँ भी दृष्टि पड़ी, अपने आराध्यदेव को ही खड़ा पाया। अन्तर इतना ही है कि विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण कुछ उन्नत श्रेणी का है और वह चाण्डाल साधना में अभी नीचे है, लेकिन है उसी पथ का पथिक। उसमें भी आत्मा का ही संचार है। इसलिए **'जहँ तहँ हंसा नजर परै'**– जहाँ भी उसकी दृष्टि पड़ती है, आराध्य का प्रसार ही समझ में आता है। इसके पश्चात्–

'दसवें द्वारे ताली लागी'

ताली? जो ताले को खोलती है। गीता में है– **'नवद्वारे पुरे देही'** ***(5/13)***– यह शरीर नौ दरवाजोंवाला नगर है। साधक ने इन द्वारों को, मनसहित इन्द्रियों को संयमित किया, ध्यान धरा, वाद्य सुनायी पड़ा, संसार में रहते हुए निर्लेप रहने की क्षमता आयी, इस जगत्‌रूपी रात्रि में एक क्षीण ईश्वरीय प्रकाश का संचार मिला, जहाँ भी दृष्टि पड़ी तो अपने प्रभु के स्वरूप को प्रसारित पाया– जब इतना संयम सध गया तो इसके साथ ही **'दसवें द्वारे ताली लागी'**। दसवाँ द्वार है ब्रह्मरन्ध्र। जिस द्वार से ब्रह्म में प्रवेश पाया जाता है, वह है योग-युक्ति की कुञ्जी।

सदगुरु दीन्ही ताला कुंजी, जब चाहूँ तब खोलू किवड़िया।

योगयुक्ति की कुंजी मिलते ही **'अलख पुरुष जाको ध्यान धरै'**। अलख अचिन्त्य, अगोचर परमात्मा का सम्बोधन है। मनुष्य के पास इन्द्रियाँ हैं; मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं किन्तु परमात्मा इन सबसे परे है। इनके माध्यम से वह अलख है, देखने में नहीं आता। वह अनुभवगम्य है। किन्तु योगयुक्ति का जहाँ संचार हुआ, ताली लग गयी तो अलख अगोचर वह परमात्मा ही **'ध्यान धरै'**। अब तक हम ध्यान धरते थे, इस अवस्था के पश्चात् भगवान ही हमारा ध्यान करने लग जाते हैं। **'भजन हमार हरि करैं, हम पायो बिसराम।'** ऐसा साधक पेंशनीयर हो जाता है, वह तृप्त हो जाता है। **'जुगन जुगन की तृषा बुझानी'**– जन्म-जन्मान्तरों से प्यासी आत्मा की प्यास बुझ जाती है। कभी यह जीव चक्रवर्ती नरेश बना, कभी कंगाल तो कभी उद्योगपति; किन्तु रहा बेचारा दरिद्र का दरिद्र! इसकी प्यास कभी मिटी ही नहीं। किन्तु दसवें द्वार में ताली लगते ही उस अलख अविनाशी परमात्मा ने उसे उठा लिया। अब वह परमात्मा ही हमारा ध्यान धरने लगा। इस अवस्था में जन्म-जन्मान्तरों से जो आत्मा तृषित थी, उसकी प्यास मिट गयी, आत्मा अपना स्वरूप पा गया।

करम भरम अघ व्याधि टरै।

कर्मों के लेख समाप्त! जो चिन्तन-कर्म अनिवार्य था, उसकी भी आवश्यकता पूर्ण हुई। जो भ्रम था कि भगवान क्या हैं? कैसे हैं? ऐसी भ्रान्ति भी समाप्त हो गयी। पतन की ओर ले जानेवाली पाप-प्रवृत्ति भी समाप्त हो गयी। भव-व्याधि भी दूर हो गयी।

काल कराल निकट नहिं आवे, काम क्रोध मद लोभ जरै।

काल अर्थात् समय! यह अत्यन्त प्रबल है। समय का परिवर्तन बाल पका देता है, दाँत गिरा देता है, आयु के अन्तिम क्षण तक पहुँचा देता है। **'कालु सदा दुरतिक्रम भारी।'** ***(रामचरितमानस, 7/93/8)*** ऐसा दुर्जय काल भी उस भक्त के समीप नहीं आता; क्योंकि अब भक्त का ध्यान भगवान कर रहे हैं। वह काल भगवान को धोखा देकर भक्त को ले नहीं जा सकता, काल साधना में उलटफेर नहीं कर सकता। इस साधन का स्वल्प अभ्यास भी जन्म-मृत्यु के महान बन्धन से छुटकारा दिलाकर ही छोड़ता है। भगवान के अंक में स्थान मिल जाने के पश्चात् काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर– प्रकृति के ये विकार सदा के लिये शान्त हो जाते हैं। और जब विकार शान्त हो गये–

कहत कबीर सुनो भाई साधो! अमर होय कबहूँ न मरै।

सन्त कबीर कहते हैं– सन्तो! ध्यान दें। वह व्यक्ति अविनाशी पद प्राप्त कर लेता है जहाँ मृत्यु का समावेश नहीं है। कबीर ठीक वही घोषणा कर रहे हैं जो आदिशास्त्र गीता में है–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। ***(गीता, 18/62)***

इसके पूर्वश्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि ईश्वर सबसे हृदय में निवास करता है। यहाँ इस श्लोक में कहते हैं– सम्पूर्ण भावों से उसी हृदयस्थ ईश्वर की शरण में जाओ। संसार में कोई गायत्री की शरण में, कोई विन्ध्यवासिनी की शरण में तो कोई पशुपतिनाथ, कोई अल्लाह, कोई गॉड की शरण में जाते ही रहते हैं। मान लें, इन सारी मान्यताओं को तोड़कर हम हृदयस्थ ईश्वर की शरण में चले ही जायँ तो उससे क्या लाभ होगा? भगवान कहते हैं– **'तत्प्रसादात्परां शान्तिं'**– उसके कृपा-प्रसाद से तुम परम शान्ति

प्राप्त कर लोगे। इतना ही नहीं, **'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'**– तुम उस स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है, अजर-अमर है। यही कबीर भी कह रहे हैं– **'अमर होय कबहूँ न मरै'**।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आरम्भ में भजन में मन नहीं लगता, भजन में रस नहीं मिलता। कबीर आश्वस्त करते हैं कि भजन में रस मिलता है लेकिन एक निश्चित दूरी तय कर लेने के पश्चात्। वहाँ तक की दूरी तो आपको ही तय करनी होगी। जब चित्त संकल्प-विकल्प से रहित हो शून्य में एकाध मिनट भी टिकने की क्षमता प्राप्त कर लेता है; यद्यपि वह अभी आकाशवत् तो नहीं हुआ किन्तु उसे आकाश में प्रवेश मिल गया है। उसे कन्दरा में प्रवेश मिल गया तो तुरन्त वह रस **'राम सुधा रस'**– ब्रह्म-पीयूष प्रसारित हो जायेगा। यह स्रोत अजस्र है, अनवरत है। एक बार जागृत हुआ तो फिर कभी आपका साथ नहीं छोड़ेगा, क्योंकि ईश्वर-पथ में आरम्भ का, बीज का नाश नहीं है। माया में कोई यन्त्र नहीं है कि उसे मिटा दे।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। *(गीता, 2/40)*

ईश्वर-दर्शन की एक नियत विधि है जिसे नियत कर्म कहते हैं, उसका परिपालन, उसका आचरण ही धर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी धर्म नहीं है। इस धर्म का स्वल्प अभ्यास भी जन्म-मृत्यु के महान भय से उद्धार करनेवाला होता है। इस निष्काम कर्मयोग में सीमित फलरूपी दोष भी नहीं है कि स्वर्ग, ऋद्धियों या सिद्धियों में भरमाकर आपको बीच में ही कहीं खड़ा कर दे इसलिए स्वल्प साधन भी जन्म-मृत्यु के महान भय से उद्धार करनेवाला होता है। अगले जन्मों में जहाँ से साधन छूटा था, व्यक्ति वहीं से आरम्भ करता है और कुछेक जन्मों के अन्तराल से व्यक्ति वहीं पहुँच जाता है जिसका नाम परमगति है, परमधाम है। धर्म कभी बदलता ही नहीं।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। *(गीता, 6/45)*

ईश्वर-पथ में यह सुविधा है कि श्वास के रहते-रहते यदि मनुष्य से इस पथ को समझकर दो कदम भी चलते बन गया तो यद्यपि तत्काल मुक्ति तो नहीं हुई किन्तु उसके मोक्ष का आरक्षण भली प्रकार हो गया। यह गीतोक्त आचरण

आप सबकी मुक्ति का बीमा है। इसमें अनेक जन्मों के अन्तराल की सम्भावना इसलिए है कि कुसंग-सुसंग के प्रभाव से गन्तव्य की प्राप्ति में विलम्ब या शीघ्रता हो जाती है। कुछ ऐसे स्तर के लोग भी हैं जो एक ही जन्म में यह लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं; अनेक ऐसे भी हैं कि करोड़ कुसंग आ जाय, उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पूज्य गुरुदेव को रहीम का यह दोहा बहुत प्रिय था–

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चंदन बिष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग।।

बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।।

(रामचरितमानस, 1/3/10)

दैवयोग से बड़े सज्जन पुरुष भी कभी-कभी कुसंग में पड़ जाते हैं लेकिन जिस प्रकार सर्प के मस्तक में मणि और विष साथ-साथ रहने पर भी मणि विष से प्रभावित नहीं होती, प्रत्युत् विष के प्रभाव को भी हर लेती है, उसी प्रकार सज्जन पुरुष कुसंग में भी अपने निर्मल स्वभाव को नहीं छोड़ते बल्कि दुष्टों को भी सन्मार्ग पर ही ले आते हैं। अतः सबको चाहिए कि विषम परिस्थितियों में भी मर्यादा का सदैव ध्यान रखें। हमारा चिन्तन ही कैसा है कि दुर्गुणों का प्रभाव पड़ जाय? जो साधक हरि के भरोसे होते हैं, समर्पण के साथ एक प्रभु का सुमिरण करते हैं, ऐसे '**हरि भक्तन के पास न आवे भूत प्रेत पाषंड।**'– उस भक्त पर जादू-टोना, जन्तर-मन्तर, ग्रह-दशा इत्यादि कुछ भी प्रभाव नहीं डाल पाते, उसके समीप भी नहीं जाते–

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू।।

(रामचरितमानस, 1/125/8)

।। ॐ श्रीसद्‌गुरुदेव भगवान की जय ।।

अब हम दोनों कुल उजियारी

सन्त कबीर क्रियात्मक चलकर स्थिति प्राप्त करनेवाले महापुरुष थे। उनके इस पद की व्याख्या के पहले उन्हीं का एक छोटा-सा भजन सुनें–

कोइ सफा न देखा दिल का........... रे कोई........

बिल्ली देखा बगुला देखा, सरप जो देखा बिल का।
ऊपर ऊपर बनी सफेदी, भीतर गोला जहर का।
रे कोई........

काजी देखा मुल्ला देखा पण्डित देखा छल का।
औरन को बैकुण्ठ बतावे, आप नरक में सरका।
रे कोई........

पढ़े लिखे कछु वेद सासतर भरल गुमान बरन का।
कहत कबीर सुनो भाई सन्तो, लानत ऐसे तन का।
रे कोई........

धर्म के नाम पर टोना-टोटका कुछ भी कर डालने से धर्म तो नहीं हो जाता। संत कबीर कहते हैं– एक बहुत साफ-सुथरी बिल्ली देखी, एक बगुला देखा, बिल में रहनेवाला एक सर्प देखा। बाहर से देखने पर इनमें बड़ी चिकनाई। बगुले के पंख तो एकदम सफेद! धूल और गर्द वायु में उड़ते रहते हैं किन्तु बगुले के पंख उससे प्रभावित नहीं होते। धुले वस्त्रों के लिए लोग उदाहरण देते हैं कि यह इतना बढ़िया धुल गया जैसे बगुले का पंख। सर्प के शरीर की पट्टी कितनी चिकनी और चमकदार होती है किन्तु उसके भीतर '**गोला जहर का**'। तीनों के सामने उनके आहार जीव पड़ भर जायँ, निश्चित मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

इन उदाहरणों से समानता करते हुए संत कबीर ने कहा– हमने '**काजी देखा....मौला देखा....पंडित देखा छल का।**' ये लोगों को बैकुण्ठ दिखाते हैं

कि चल बैकुण्ठ! ऐसा वैसा कर डालो, मिल जायेगा बैकुण्ठ! इतनी दक्षिणा दो तो मिल जाय बैकुण्ठ! **'औरों को बैकुण्ठ लखावै, आप नरक में सरका। रे कोई सफा न देखा दिल का।'** दूसरों को ये सदैव बैकुण्ठ का प्रलोभन देकर ठगते रहते हैं और स्वयं नरक की सीधी राह पकड़े हुए हैं। अर्थात् भगवान भगवान हैं, साधना साधना है। पहले हमारी वृत्ति अधोमुखी थी, अब इन्द्रियों को संयमित कर वृत्ति को इष्टोन्मुखी प्रवाहित कर दें। इतनी ही तो साधना है। इसमें लाग-लपेट की जगह ही नहीं है। इस साधना के अतिरिक्त कुछ अन्य टोना-टोटका कर कोई स्थिति प्राप्त कर ले, ऐसी कोई गुंजाइश नहीं है। प्रायः लोगों को पढ़ाई-लिखाई का बड़ा गर्व होता है। कबीर कहते हैं–

पढ़े लिखे कछु वेद सासतर, भरल गुमान बरन का।
कहत कबीर सुनो भाई सन्तो, लानत ऐसे तन का।
रे कोई सफा न देखा दिल का।।

कुछ वेद-शास्त्र पढ़ लिया तो अहंकार भर गया कि हम तो इतने विद्वान हो गये! हमारे जैसा कौन है? किसी-किसी में जाति-वर्ण का अभिमान आ जाता है कि हम इतने उच्चकुल के हैं। यह जाति-अभिमान प्राप्ति के पहले नहीं जाता। कबीर कहते हैं कि यह पार्थिव शिक्षा और वर्ण का अभिमान, शारीरिक बल और कौशल का अहंकार सरासर धोखा है। इस पर इतराने को धिक्कार है क्योंकि ईश्वर के दरबार में कुल और पार्थिव शिक्षा का कोई उपयोग नहीं है अपितु यह बाधा ही है। ईश्वर-पथ की विद्या भगवान स्वयं पढ़ाते हैं जिसे कोई अनुरागी विरही पथिक निरन्तर पढ़ता रहता है। गोस्वामीजी भी कहते हैं–

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई।।
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई।।

(रामचरितमानस, 2/130/5-6)

'जाति' कि मैं अमुक जाति का हूँ, कुलीन हूँ; **'पाँति'**– उनमें भी पंक्तिपावन हूँ; **'धनु धरमु बड़ाई'**– मेरे पास इतना धन, मुझमें इतना बल, इतना बड़ा मेरा समुदाय, इतना बड़ा परिवार, परिजन; इतना गुणी हूँ मैं, इतना

चतुर हूँ – जो इन सबको त्याग कर आपको हृदय में धारण करता है, हे भगवन्! आप उसके हृदय में रहें। खाली पात्र में ही कुछ रखा जा सकता है। यदि मन में पहले से ही धन भरा है, बल भरा है, गुण भरा है, चतुराई भरी है, कुल और जाति का अभिमान भरा है तो भगवान कहाँ बैठे? मानस में है–

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

(रामचरितमानस, 5/43/5)

निर्मल मन में ही भगवान का निवास होता है। ऐसे ही अमलात्मा महात्माओं में कबीर अप्रतिम थे। उनके जीवन में पार्थिक शिक्षा का, जातीय अभिमान का प्रश्न ही नहीं था। भजन उनमें जागृत था। **'गगन मण्डल में पिया गोहराइल'**– भगवान के निर्देशन में चलकर उन्होंने भगवान में स्थिति को प्राप्त किया था। इसी आशय का यह भजन है–

अब हम दोनों कुल उजियारी।

पाँच पुत्र तो उदर के खाये, ननद खाइ गये चारी।
पास परोसिन गोतिन खाई, तापर बुद्धि महतारी।
अब हम.........

सोलह खसम नैहर के खाये, भये बत्तीस ससुरारी।
धन्य सराहूँ वाहि पुरुष को, जो सरवर करत हमारी।
अब हम.........

सास ससुर पाटी में बाँधे, भसुरा को गुड़तारी।
तब कुल बोरनि सेज बिछायों, सोयो टाँग पसारी।
अब हम.........

कहत कबीर सुनहु भाई साधो, संतन लेहु विचारी।
जो यह पद का अर्थ लगावे, वही पुरुष हम नारी।।
अब हम.........

लड़कों का, पुरुषों का यश एक कुल तक सीमित रहता है। किसी ने कीर्तिमान बनाया तो कहा जाता है कि उसने पिता और पूर्वजों का नाम

रोशन कर दिया, बालक होनहार है। किन्तु कन्याओं की कीर्ति पितु-गृह और पति-गृह दोनों को सम्मान दिलाती है। इन्हीं यश को फैलानेवाली 'दोनों कुल उजियारी' माता सीता थीं। उनके पिता सीरध्वज जनक ने उनके लिये संसार में सर्वोपरि वर चुना था। विवाह के लिए उन्होंने शर्त रखी थी धनुष तोड़ना! वह भी टूटा। सर्वोपरि वर भी मिला। इतना ही नहीं,

दाइज अमित न सकिअ कहि दीन्ह बिदेहँ बहोरि।

(रामचरितमानस, 1/333)

वह एक बार दहेज दे चुके थे, बहोरि अर्थात् दुबारा दिया। उन्होंने इतना अधिक दिया कि जिसका वर्णन आज तक नहीं हो सकता। उन्होंने समस्त वैभव अपनी कन्या को दिया था जिससे वह सुखपूर्वक रह सके; किन्तु सीताजी को अयोध्या आये कुछ ही दिन बीते थे कि रामजी को वनवास हो गया। सीताजी ने भी उनका अनुसरण किया। जनक जी ने चित्रकूट में तपस्विनी के वेष में साधारण-सी झोपड़ी में अपनी पुत्री को देखा,

तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ पेमु परितोषु बिषेखी।।

(रामचरितमानस, 2/286/1)

जनकजी को बड़ा परितोष हुआ, पूर्ण सन्तुष्ट हो गये। चक्रवर्ती सम्राट की पुत्रवधू भिखारिन हो गयी तो संतोष कैसा? खुशी कैसी? वस्तुतः जनक स्वयं एक सन्त थे, त्यागी थे, विदेह कहे जाते थे। वह जानते थे कि संसार में कोई सिंहासन पर जीवन व्यतीत करता है तो कोई फुटपाथ पर। यह जीवन तो जन्म और मृत्यु के बीच का एक पड़ाव है। यह जीवनयापन सत्य नहीं है, सत्य कुछ और है। उन्होंने अपनी पुत्री को उसी मार्ग पर पाया तो उन्हें बड़ा परितोष हुआ, बहुत ही सन्तोष हुआ। उन्होंने कहा–

पुत्रि पबित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सब कोऊ।।

(रामचरितमानस, 2/286/2)

हे पुत्री! तुमने दोनों कुल को पवित्र कर दिया। तुम्हारा सुयश बहुत उज्ज्वल है। सभी आज यही कह रहे हैं। गोस्वामीजी की मान्यता है–

सूर, सुजान, सुपूत, सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई।
जो पै लगन राम सों नाहीं। ***(विनयपत्रिका, 175)***

जनक ने पाया कि उनकी पुत्री ने यह चरितार्थ कर दिया। इस प्रकार कन्या दो कुलों को पवित्र बनाती है। किन्तु सन्तों का कुल कुछ अलग ही होता है। सिद्धार्थ जब सन्त हो गये, उन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया, गौतम बुद्ध कहलाये। उनके पिता महाराज शुद्धोदन ने उन्हें घर लौटाने के कई प्रयास किये; किन्तु सफलता मिलती न देख मंत्रियों द्वारा संदेश भिजवाया कि, ''भगवन्! अब तो आप सन्त हो गये। आपके लिये तो सब बराबर हैं, हम पृथक् कैसे हो गये? एक दिन आप हमारे दरवाजे पर भी भिक्षा ग्रहण करें।'' बुद्ध ने कहलाया, ''राजन्! एक बार हम आपके यहाँ भिक्षा करने अवश्य आयेंगे।''

कई महीने व्यतीत हो गये। एक दिन भगवान बुद्ध ने कहा, ''क्यों भिक्षुओ! उन महाराजा के निमन्त्रण को पर्याप्त समय व्यतीत हो गया?'' भिक्षुओं ने कहा, ''हाँ, भगवन्!'' बुद्ध ने कहा, ''क्यों न इसे आज सम्पादित कर दिया जाय!'' भिक्षुओं ने कहा, ''जैसी भगवान की इच्छा!'' भिक्षुओं के साथ बुद्ध कपिलवस्तु की ओर बढ़े। ज्योंही उन्होंने राज्य की सीमा में प्रवेश किया, सीमारक्षकों ने महाराज को दौड़कर बताया कि युवराज सीमा में प्रवेश कर चुके हैं। अब उस उद्यान में है..... अब उस गाँव में हैं.....। नगर सजने लगा। महल सज गया। कई-कई स्वागत द्वार बनाये गये, झण्डियाँ बँध गयीं। सौ-दो सौ कुमारी कन्यायें मंगल-कलश लेकर पंक्तिबद्ध खड़ी थीं। स्वस्तिवाचन करते आचार्यों से घिरे महाराज मुख्य द्वार पर मंत्रियों तथा श्रेष्ठिजनों के साथ उपस्थित थे।

दोपहर हो चला था। भगवान बुद्ध राजमहल के समीप आ गये थे। मुख्य द्वार सौ-पचास मीटर दूर दिखायी दे रहा था। अचानक भगवान बुद्ध ने शिष्यों से कहा, ''क्यों? भिक्षा का समय तो हो गया भिक्षुओं!'' वे बोले, ''हाँ भगवन्! समय तो हो गया।'' बुद्ध ने कहा, ''तो भिक्षा कर लो। महाराज का निमन्त्रण कोई आज का तो है नहीं, उसे कल भी पूरा किया जा सकता

है।'' भिक्षुवृन्द तत्काल गलियों में छिटक पड़ा। भगवान बुद्ध भी एक झोपड़ी की ओर घूम पड़े, कहा, ''भिक्षां देहि!'' झोपड़ी में से एक बुढ़िया निकली। उसने कहा– ''कुमार आप! आप जब छोटे थे तो मैं ही आपके भवन में साफ-सफाई किया करती थी।'' बुद्ध ने कहा, ''माते! हमने भिक्षा माँगी है।'' वृद्धा ने कहा, ''यह चमार का घर है।'' बुद्ध ने कहा, ''माते! हमने जाति तो पूछी नहीं, केवल भिक्षा माँगी है। क्या एक भिक्षु को तुम भिक्षा नहीं दोगी?''

बुढ़िया की आँखों में अश्रु छलक आये। कदाचित् जीवन में पहली बार कोई उससे इतना प्रेम से बोला था। उसके घर में जो भी रूखा-सूखा था, लाकर भिक्षापात्र में डाल दिया। बुद्ध उसमें से कुछ खाते हुए आगे बढ़े। यह दृश्य उनके पिता महाराज शुद्धोदन देख रहे थे। बड़ी झल्लाहट के साथ वह बोल उठे, ''यह सब क्या हो रहा है?'' भगवान बुद्ध ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया, ''राजन्! यह अपनी कुल-परम्परा का पालन हो रहा है।'' राजा ने कहा, ''कौन-सा कुल? तुम्हारे कुल के तो हम हैं। हमारे घर में ऐसा तो कभी हुआ नहीं!'' बुद्ध ने कहा, ''राजन्! शरीर तो कहीं न कहीं जन्म लेता ही है। पिछले जन्म में कोई और ही हमारे माता-पिता थे, कोई अन्य परिवार था। आज आप माता-पिता हुए हैं और यह परिवार है। जब तक अन्तिम संस्कार समाप्त नहीं हो जाता, तब तक माता-पिता, कुल-परिवारों का मिलना ही है। हम इस कुल के नहीं हैं। हम तथागत, जीवन्मुक्त महापुरुषों के कुल के हैं। राजन्! हमारे कुल की यही परम्परा है कि अमीर-गरीब सबसे भिक्षा लो, उनके दुःख-सुख की अवस्थाओं का अध्ययन करो और वह जिस श्रेणी या जिस स्तर पर हों, वहीं से उनका उत्थान करो, उनका मार्गदर्शन करो।'' सन्तों का स्वरूप भी यही है।

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(रामचरितमानस, 7/46/5)

बिना किसी प्रयोजन के संसार में यदि कोई निःस्वार्थ उपकारी है तो भगवन्! एक तो स्वयं आप हैं और दूसरे आप के अंतरंग भक्त। राजा शुद्धोदन सिर पकड़कर बैठ गये। कहाँ वह राजकुँवर को बहला-फुसलाकर राजमुकुट

उनके सिर पर रख वृद्धावस्था में राज-काज से मुक्त होना चाहते थे और वही राजकुमार सामान्यजनों के यहाँ भोजन करने लगा। इस प्रकार भगवान बुद्ध ने अपने कुल का परिचय दिया। एक जन्म तो माता-पिता से प्राप्त होता है जो शरीर का जन्म है, दूसरा जन्म सद्‌गुरु या महापुरुष की देन है जो स्वरूप का जन्म है। इसी जन्म के लिये आदि शंकराचार्य ने कहा है कि वही जन्म सराहनीय है जिसके पीछे मृत्यु न हो और वही मृत्यु सराहनीय है जिसके पश्चात् पुनर्जन्म न हो। उस सहज स्वरूप की प्राप्ति का एकमात्र कुल है सद्‌गुरु का दरबार!

इसी प्रकार भगवत्पथ में दो कुलों की मान्यता है– उपासक की सगुण तथा निर्गुण अवस्था। यह एक ही साधक की क्रमोन्नत अवस्था है। दो तरह की उपासना नहीं होती।

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

(रामचरितमानस, 1/115/2)

परमात्मा जो अलख है, लखने में नहीं आता; अरूप है, अमूर्त है, अजन्मा है, वही भक्त के प्रेम से विवश होकर सगुण हो जाता है। जब वह आत्मा से रथी होकर मार्गदर्शन करता है तो सगुण है और उन्हीं के संरक्षण में चलकर जब साधक उन्हें प्राप्त करता है तो **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** ***(रामचरितमानस, 2/126/3)*** उसी भाव को प्राप्त हो जाता है तब उसकी रहनी निर्गुण हो जाती है। निर्गुण एक स्थिति है। साधना जब चलती है सगुण से चलती है। सगुण उपासक ही साधना की पराकाष्ठा पर निर्गुण रहनी प्राप्त कर लेता है। यही साधक के दो कुल हैं। दोनों एक ही साधक में फलित होते हैं। संत कबीर कहते हैं– आज दोनों कुल मुझमें प्रकाशित हैं। मैं उनसे प्रतिबिम्बित हूँ।

अब हम दोनों कुल उजियारी।

कई अन्य पदों की तरह इस पद में भी कबीर ने अपने को एक नारी के रूप में चित्रित किया है। यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है। वस्तुतः भजन शरीर नहीं करता। शरीर तो एक मकान है। मकान क्या खाक भजन करेगा? आपसे या माताओं से जब भी भजन पार लगता है, एक इष्टोन्मुखी लगन

जागृत हो जाती है, वही भजन करा लेती है। लौ रूपी लड़की! इसकी नारी संज्ञा है। यदि यह लौरूपी लड़की जागृत नहीं हुई तो कोई कितना भी ध्यान लगाये, आँख मूँदे– सब व्यर्थ चला जाता है।

का मुद्रा माला के फेरे चंदन घिसे लिलारा।
जटा रखावत मूड़ मुड़ावत अंग लपेटत छारा।
अवधू भजन भेद कछु न्यारा।।

माला फेरने से, चंदन घिसने से, सिर मुड़ाने से या विभूति पोतने से क्या होगा? कुछ भी नहीं! भजन का रहस्य कुछ अन्य ही है। वह जहाँ जागृत हो गया, इष्टोन्मुखी लगन जागृत हो गयी फिर संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है कि भगवान की राह से उसे विचलित कर दे। माता मीरा को लगन लग गयी तो जहर का प्याला, शूली की शय्या, देश निकाला इत्यादि विघ्न उसे लक्ष्य से विचलित नहीं कर पाये।

इसी प्रकार बालक ध्रुव का कथानक है। ध्रुव के पिता की दो रानियाँ थीं। छोटी रानी से उनके पिता का लगाव अधिक था। एक दिन पाँच वर्ष का बालक ध्रुव पिता की गोद में बैठना चाहा तो छोटी माता ने उसे गोद से उतार कर कहा, ''राजा की गोद में बैठने के लिए तुम्हें मेरी कोख से जन्म लेना चाहिए था।'' रोते हुए ध्रुव ने अपनी माँ से पूछा, ''इसमें मेरा क्या दोष है? मुझे क्या करना चाहिए कि मैं पिता की गोद में बैठ सकूँ?'' उसकी माँ ने कहा, ''भगवान का भजन कर तो शायद तू उस लायक हो जाय!'' ध्रुव भगवान की शोध में निकल पड़ा। राजा को ज्ञात हुआ तो उसने मंत्रियों से कहलवाया कि अब तक तुम माँ-बेटे को खाने के लिये प्रतिदिन एक किलो आटा मिलता था, यदि ध्रुव लौट आये तो आज से वह दो किलो मिलने लगेगा। ध्रुव ने विचार किया, अभी तो हमने भजन किया ही नहीं, भगवान की राह में अभी दो कदम ही रखा है,

जिन्ह प्रभु कीन्ह सेर से दूना। ताके भवन कुछहू नहिं सूना।।

केवल दो कदम रखने का यह परिणाम? सेर का दो सेर कर दिया जिस भगवान ने, उनके घर में निःसन्देह किसी वस्तु का अभाव नहीं हो

सकता। अब तो मैं उन्हें प्राप्त करके ही लौटूँगा। जंगल में शेर-चीतों का भय, अनेकानेक विघ्न आये; किन्तु उनकी श्रद्धा पुष्ट होती ही गयी। लौ लग गयी। ध्रुव ध्रुव हो गये अर्थात् अचल पद पा गये। प्रह्लाद को खौलते तेल के कड़ाह में डाला गया, हाथियों से कुचलवाया गया किन्तु न उसकी लगन कमजोर पड़ी, न भगवान का योगक्षेम कमजोर पड़ा। भजन के लिये लौ अनिवार्य है। रामचरितमानस में है–

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।

(रामचरितमानस, 7/42/7–8)

बड़े भाग्य से मानव-तन मिला है। यह देवदुर्लभ है। खाना-पीना, मरना-जीना तो हर शरीर में है। इस मानव-तन में ऐसी कौन-सी विशेषता है? इस पर गोस्वामी जी कहते हैं– यह साधन धाम है। क्षेत्रीय बोलचाल की भाषा में साधन के कई आशय लिये जाते हैं; जैसे– पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोगों से पूछिये कि आप कैसे आये हैं? वे कहते हैं– साधन से आये हैं अर्थात् बस से आये हैं। बाँदा जिले में पूछिये कि आजकल क्या हो रहा है? तो कहते हैं– साधन के चक्कर में पड़ा हूँ। साधन अर्थात् आटा-भाटा, भोजन का प्रबन्ध करना। गोस्वामी जी कहते हैं– यह साधन नहीं बल्कि वह साधन जो आपको मोक्ष प्रदान कर दे, आवागमन से मुक्ति प्रदान कर दे। उस मुक्ति के लिये विवेक, वैराग्य, श्रद्धा, समर्पण, टेक इत्यादि जितना भी साधन चाहिये, वह सब इस मानव-तन में भरकर भगवान ने आपको जन्म दिया है। इसे पाकर जो अपना निजी परलोक नहीं सँवार लेता–

सो परत्र दुःख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।।

(रामचरितमानस, 7/43)

वह जन्मान्तरों में दुःख पाता है। काल, कर्म और ईश्वर को व्यर्थ ही दोष देता है। यह है साधन-धाम! धाम माने आपका घर। भला घर कौन-सा भजन करेगा? इसमें जागृत होती है इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति! लौरूपी लड़की! लौ इतनी उन्नत हो गयी कि कबीर कह उठते हैं–

'अब हम दोनों कुल उजियारी।'

'अब' और 'तब' में पूरब और पश्चिम का अन्तर है। दो-एक उदाहरण लेते हैं। मान लें, खेत की मेड़ पर किसी ने कुछ अधिक ही जोत लिया। लड़कों ने लाठी चला दी। मुकदमा चल गया। जिले के न्यायालय से उच्च न्यायालय चले गये। सर्वोच्च न्यायालय तक आने-जाने लगे। दो-तीन बीघे खेत बिक गये। किसी तरह अनुकूल पासा पड़ गया, अब कहीं जान में जान आयी। जब आँखों से घूर रहे थे तब नहीं; जब खींच-खींच कर डण्डा चलाते थे तब नहीं, अब जब समाधान निकल आया।

इसी प्रकार कन्या के विवाह में प्रायः वर ढूँढ़ते दो-चार वर्ष लग जाया करते हैं। किसी तरह दो-चार बिस्वा बेचकर बिटिया के हाथ पीले करते बन गया तो अब कहीं जान में जान आयी। 'अब' शब्द कार्य की पूर्ति का द्योतक है। कबीर भी कहते हैं– 'अब'। एक ऐसी स्थिति मुझमें देखने को मिली कि दोनों कुल – निर्गुण कहलानेवाला अविनाशी, सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म और सगुण कहलानेवाला दयालु परमात्मा दोनों का प्रकाश मुझमें प्रकाशित है, एक साथ विद्यमान है। इसके लिये आपने क्या किया? कबीर कहते हैं–

पाँच पुत्र तो उदर के खाये, ननद खाइ गये चारी।

उदर के पाँच पुत्र अर्थात् छिति, जल, पावक, गगन और समीर– ये पञ्च महाभूत ही उदर में आने के कारण बनते हैं। बार-बार जन्म और पोषण के कारण इन पञ्च महाभूतों की गति को हमने शान्त कर लिया। अब ये हमारे लिये शरीर का निर्माण नहीं कर सकेंगे। साधना की ऐसी स्थिति आ गयी कि ये पञ्च महाभूत परमतत्त्व परमात्मा में लीन हो गये।

'ननद खाइ गये चारी'– भजन की चारों स्थितियाँ समाप्त हो गयीं। साधना के कई अंग हैं– नाम, रूप, लीला और धाम। इसमें सर्वप्रथम और प्रमुख अंग है नाम। नाम से ही साधना की जागृति होती है और परिणाम देकर ही नाम शान्त होता है, बीच में कहीं विराम नहीं है। एक ही नाम को चार श्रेणियों से जपा जाता है– बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा।

बैखरी उसे कहते हैं जो व्यक्त हो जाय। आप इस ढंग से जप करें कि ओम्....ओम् या राम....राम सबको सुनायी पड़े। खूब लौ लगाकर जप करें। जब अभ्यास थोड़ा सूक्ष्म हुआ, मन में और टिकने की क्षमता आयी तो मध्यमा! मध्यम अर्थात् धीरे-धीरे। यह उच्चारण कण्ठ से होता है। जिह्वा का हल्का-सा सहारा दें, नाम का उच्चारण इतना धीरे से करें कि वह केवल आपको सुनायी पड़े, पास में और कोई बैठा हो तो उसे सुनायी न दे। आप उच्चारण स्वयं करें और सुनें भी स्वयं। चौबीस घण्टे बैखरी से जपें किन्तु यदि दस-पाँच मिनट भी मध्यमा से जपने की क्षमता आ जाय तो यह उसकी बराबरी कर लेगा।

वाणी जप की तीसरी उन्नत अवस्था पश्यन्ती है। नाम वही है केवल चिन्तन के तरीके में परिवर्तन होता है। इस पश्यन्ती वाणी के जप का उतार-चढ़ाव श्वास पर है। अब आप मन को द्रष्टा बनाकर खड़ा भर कर दें, श्वास को देखा भर करें कि साँस कब अन्दर गयी, कितनी देर तक रुकी और कब लौटकर बाहर आयी। जहाँ मन भली प्रकार खड़ा होकर साँस को देखने लगे तब आहिस्ते से चिन्तन में नाम ढाल दें। साँस आयी तो ओम्, गयी तो ओम्! ओम्...ओम्...ओम्...ओम्...। कदाचित् आप राम जपते हैं, साँस आयी तो 'रा', गयी तो 'म'; इस प्रकार साँस के साथ नाम जप करें। साँस को घटायें, बढ़ायें नहीं। बच्चों में बच्चों-जैसी, वृद्धों में वृद्धों-जैसी और युवकों में युवक-जैसी साँस तो चलती ही रहती है। इसका क्रम कभी नहीं टूटता। यह परमात्मा की माला है– **'निरञ्जन माला घट में फिरे दिन-रात।'** साँस की यह माला रात-दिन चलती ही रहती है। साँस स्वाभाविक जैसे चलती है, उसी में नाम ढाल दें। कुछ दिन इसे ढालना पड़ेगा और फिर साँस में ढला-ढलाया नाम जागृत हो जायेगा।

पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे कि साँस सिवाय नाम के और कुछ कहती ही नहीं। मन को सब ओर से समेटकर श्वास में लगा भर दो। श्वास को देखा भर करें। जहाँ श्वास में नाम ढला-ढलाया मिला, जागृत हुआ, तहाँ नाम-जप की पश्यन्ती अवस्था आ गयी। पश्य माने देखना! जब श्वास देखने की क्षमता आ जाती है, श्वास में प्रसुप्त नाम सुनायी देने लगता है।

पश्यन्ती की परिपक्व अवस्था परा में प्रवेश दिला देती है। फिर तो **'जपे न जपावे, अपने से आवे'**। न मन को जपने के लिए बाध्य करें और न जपें, फिर भी जप आपका पिण्ड न छोड़े। एक बार सुरत लग गयी, लौ लग गयी तो ओम्...ओम्...ओम्... धुन प्रवाहित हो गयी। भजन के आरम्भ में मन का धरातल वासनाओं की ओर भागना होता है; किन्तु बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती के पश्चात् जहाँ परा में प्रवेश मिला तो मन की खुराक वही जप हो जायेगा। साँस बाँस की तरह एकदम तैल धारावत् खड़ी हो जायेगी। इसी जप का नाम अजपा भी है। अजप अर्थात् न जपो। हम न जपें और जप हमारा साथ न छोड़े। यही अजपा परावाणी है।

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। *(रामचरितमानस, 7/71/7)*

भगवान प्रकृति से परे हैं, परम पुरुष हैं, परमतत्त्व हैं। यह उस परम में प्रवेश दिला देनेवाली वाणी है इसलिए इसका नाम है परावाणी। अब उस परमतत्त्व परमात्मा को प्राप्त करने के लिए वाणी में कोई परिवर्तन नहीं लाना पड़ेगा। परावाणी की परिपक्व अवस्था में–

जप मरे अजपा मरे, अनहदहू मरि जाय।
सुरत समानी शब्द में, ताहि काल न खाय॥

जप आवश्यक है। मरे का अर्थ यह नहीं कि हम जप शुरू ही न करें। हमारे पास था क्या जो मर गया? जब कुछ है ही नहीं तो मरेगा क्या? इसलिए जप तो आवश्यक है, अनिवार्य है किन्तु अजपा की जागृति के साथ जप अजपा में परिवर्तित हो गया। यह अजपा भी परिवर्तित हो जाता है। अजपा मरे कब? जब अनहद की पकड़ आ जाय। यह **'अनहदहू मरि जाय'**। वह कब? जब **'सुरत समानी शब्द में'**। सुरत मन की दृष्टि का नाम है। यह जब शब्द में समा गयी अर्थात् श्वास में उठनेवाले शब्द में समा गयी, चित्त का निज स्वरूप शून्य हो गया, शब्द मात्र रह गया– **'ताहि काल ना खाय'**– तत्क्षण काल से परे अकाल पुरुष परमात्मा आपमें दृष्टि बन जायेंगे, सामने स्वयं खड़े हो जायेंगे, आप नहीं समझेंगे तो भी समझा लेंगे, आप नहीं मानेंगे तब भी वह मना लेंगे; क्योंकि भगवान सर्वसमर्थ सत्ता का नाम है।

'ननद खाइ गई चारी'

नेह आनन्द स ननद! नेह का बड़ा महत्व है–

नेह निभाया ही सरे, छोड़े सरे न आन।
तन दे धन दे शीश दे, नेह न दीजै जान॥

नेह अर्थात् स्नेह! स्नेह का निर्वाह करने पर ही **'सरै'** अर्थात् आपकी कार्यसिद्धि होगी, आपको सफलता मिलेगी। **'छोड़े सरै न आन'**– स्नेह छोड़ देने से अन्य किसी भी विधि से कभी सफलता नहीं मिलेगी। इसलिए तन देना पड़े, धन देना पड़े, मन देना पड़े– सब कुछ देना पड़े तब भी दे डालो। इतने में भी यह सौदा पट जाता है तो महँगा नहीं है; किन्तु **'नेह न दीजै जान'**– स्नेह को मत जाने दो। स्नेह का निर्वाह होने पर ही प्रभु के दर्शन हो सकते हैं। मानस में प्रभु के अवतरण के लिये धेनुरूपधारी पृथ्वी समेत सभी देवताओं की समवेत प्रार्थना में इसी रहस्य का उद्घाटन किया गया है। सबकी समस्या थी कि भगवान को कहाँ पायें कि उन्हें अपनी विपत्ति सुनायें। देवताओं ने कहा– बैकुण्ठ चलो। किसी ने क्षीरसागर की यात्रा का सुझाव दिया। भगवान शंकर भी उसी समाज में थे–

तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥

(रामचरितमानस, 1/184/4)

इतने वक्ताओं के बीच शंकर जी को बोलने का अवसर ही नहीं मिल पा रहा था। ज्योंही उन्हें अवसर मिला, **'बचन एक कहेऊँ'**। उन्होंने बताया– भगवान बैकुण्ठ में या क्षीरसागर में नहीं रहते, सर्वत्र समान रूप से हैं। वह यहाँ भी, इस क्षण भी विद्यमान हैं,

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रामचरितमानस, 1/184/5)

प्रेम से वह प्रकट हो जाते हैं। **'मैं जाना'**– यह तथ्य हमारा जाना हुआ है। हमने यह सुना नहीं, पढ़ा नहीं अपितु जाना है। इसी प्रेम को भगवान श्रीकृष्ण ने श्रद्धा कहकर व्यक्त किया है। भगवान कहते हैं– श्रद्धाविहीन होमा

हुआ हवन, दिया हुआ दान, किया हुआ कर्म, तपा हुआ तप और जपा हुआ जप सब व्यर्थ चला जाता है जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ *(गीता, 4/39)*

अर्जुन! श्रद्धावान् संयतेन्द्रिय पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। जिस क्षण ज्ञान तत्क्षण स्थिति प्राप्त करता है। श्रद्धा, प्रेम, भाव, नेह, स्नेह इत्यादि पर्यायवाची शब्द हैं। **'ननद खाइ गई चारी'**– चार अर्थात् बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा में जो नियम चल रहा था, इनमें स्नेह का जो प्रवाह था, चौथी सीढ़ी पार कर लेने पर अब उस स्नेह की भी जरूरत नहीं रह गयी, नियम की आवश्यकता समाप्त! आगे कोई सत्ता है ही नहीं तो किसके लिये नियम करें? किससे स्नेह करें? उस प्राप्तिकाल में स्नेह की आवश्यकता भी नहीं रह गयी। उस अवस्था के ठीक पास में रहती है परावाणी! तो,

'पास पड़ोसिन गोतिन खाई'

उसके ठीक पास में रहनेवाली परावाणी पड़ोसन है। **'गोतीन'**– गो माने इन्द्रियाँ! इन्द्रियों की विचरणस्थली है त्रिगुणमयी प्रकृति। वह भी शान्त हो गयी। इस दर्शन-स्पर्श के साथ सुरत शब्द में समा गयी, वह भी विलीन हो गयी। **'तापर बुद्धि महतारी'**– बुद्धि सबको धारण करनेवाली है, इसलिए माँ है। बुद्धिरूपी माता – यह उसको भी खा गयी। **'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिताः'** *(गीता, 2/68)*– बुद्धि स्थिर हो गयी, स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गयी। अलग से बुद्धि का कार्य ही निःशेष हो गया। अब इस अवस्था में आने पर सगुण कहलानेवाला दयालु परमात्मा, निर्गुण कहलानेवाला निष्क्रिय ब्रह्म – दोनों कुल मुझमें प्रवाहित हैं, मुझसे प्रकाशित हैं, दोनों का प्रकाश मुझसे संयुक्त है। आगे कहते हैं कि इस भजन से क्या होता है?

सोलह खसम नैहर के खाये, भई बत्तीस ससुरारी।

सोलह तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर! पहले **'पाँच पुत्र उदर के खाये'**– छिति, जल, पावक, गगन और समीर– इन पञ्च महाभूतों से निर्मित स्थूल

शरीर। इसके अन्तराल में सोलह तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर जिसमें दस इन्द्रियाँ, अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) तैजस और प्राज्ञ हैं। यह मन का संसार है। सृष्टि में मनुष्य के सभी विचारों को मन ही अपने में सँजोकर रखता है, संस्कारों का संग्रह करता रहता है। यदि अन्तःकरण में कोई भला अथवा बुरा संस्कार पड़ा है, वह बरबस आपको घसीट लेगा। वह संस्कार जब भी उमड़कर आयेगा तो आप इधर जा रहे हैं अकस्मात् आप लौटकर उधर जाने लगेंगे। सूक्ष्म शरीर में पड़े हुए ये संस्कार सनेह का हरण करनेवाले हैं। ये संस्कार भी शान्त हो गये तो **'भई बत्तीस ससुरारी'**– सुरा ईशवत् हो गयी। उसमें परमात्मा का संचार हो गया।

धन्य सराहउँ वाहि पुरुष को, जो सरवरि करत हमारी।

ईशवत् हो जाना– यह बड़ी महत्वपूर्ण अवस्था है। संत कबीर कहते हैं वह पुरुष धन्य है, कृतार्थ है, मैं उसकी सराहना करता हूँ जो **'सरवरि करत हमारी'**– जो हमारी बराबरी करे, इस साधन से चलकर हमारे स्तर पर पहुँच जाय। इस भगवत्पथ में साँस के भजन में अनेक बाधायें आती हैं। साँस का भजन चाहते तो सभी हैं किन्तु सुरत साँस में लगती नहीं। मन वायु से तेज चलनेवाला है। कुछ ही देर में संकल्प-विकल्पों का वेग साँस को चलायमान कर देते हैं। इन संकल्पों का वेग शान्त कर साँस में सुरत कैसे प्रवाहित हुई? उसका उपाय बताते हैं–

'सास ससुर पाटी में बाँधे'

प्रेमरूपी पाटी! परमात्मा से संयुक्त साँस की गति को हमने प्रेमरूपी पाटी में बाँध दिया। यदि प्रेम है तो सुरत साँस में प्रवाहित रहेगी। भजन में रुकावट है भ्रममयी साँस! इसलिए **'ससुरा को गोड़तारी'**– गो माने मनसहित इन्द्रियाँ! दमन के आधार पर हम इनसे पार पा गये। इन्द्रियाँ कहना नहीं मानतीं इसलिए उनका दमन किया जाता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! विषयों में विचरती हुई जिस एक इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह एक ही इन्द्रिय साधना में प्रवृत्त साधक के मन का अपहरण कर ले जाती है और कहीं न कहीं संसार-समुद्र में डुबो देती है। इसलिए मनसहित इन्द्रियों को

वश में करके मुझमें लगा, योग-साधना में लगा। इन्द्रियाँ प्रमथन स्वभाववाली हैं इसलिए भरम की सुरा को **'गोड़तारी'**– इन्द्रिय दमन के आधार पर तर गये, पार हो गये। और,

तब कुल बोरनि सेज बिछायों सोयों टाँग पसारी।

तब कुल डूब गया। अब संस्कार बचे ही नहीं इसलिए संसार में जन्म कैसे हो? अब संसार में जन्म नहीं होगा। **'सेज बिछायो'** परमात्मा सेज है, सहज है, स्वयंसिद्ध है, **'विधि न बनाये हरि आप बनि आये'**– वह शुभ-अशुभ से परे, सगुण-निर्गुण से परे, अरूप, अमूर्त, ज्योतिर्मय, अपरिवर्तनशील, एकरस परमात्मा का बिछौना मिल गया। **'सोयों टाँग पसारी'**– सुरति टाँग पसार कर सोने लगी। सुरति स्थिर हो गयी। अब आगे भजन करके जायें कहाँ? जब से जीव नाम पड़ा है, कभी नहीं सोया।

जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।।
माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।।

(विनयपत्रिका, 136)

जब से यह जीव भगवान से अलग हुआ, इसका नाम जीव पड़ गया। माया से आक्रान्त होकर यह अपने स्वरूप को भूल गया। इस योनि से उस योनि, अंतहीन सफर पर आवागमन के चक्र में प्रवृत्ति मार्ग पर चलता ही रहा। इसे सोने को कब मिला? वास्तविक शयन तभी है जब आगे जन्म न लेना पड़े, प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्य न हो। अंततः परमात्मा के अंक में स्थान मिल गया। जो स्वयंसिद्ध है, व्याप्त है, सहज है, सेज जैसा है, वह बिछौना मिल गया, साधक और भगवान के बीच की दूरी भी मिट गयी, दोनों कुल डूब गये। वह शय्या मिल गयी तो **'सोयों टाँग पसारी'** अब न आगे जन्म लेना है, न पीछे कोई विकार त्यागना है अर्थात् स्थिति मिल गयी। अंत में कबीर कहते हैं–

कहत कबीर सुनो भाई साधो संतन्ह लेहु विचारी।

सन्तों को ही उद्देश्य बनाकर कबीर कहते हैं कि आप इसे सुनें! इतनी अटपटी वाणी सब सुनकर ही क्या करेंगे? सन्त उस पथ के पथिक हैं। जो

भी चलकर इस स्तर पर आयेंगे, उनके सामने भी यही परिस्थितियाँ होंगी, यही वातावरण रहेगा इसलिए वे समझ जायेंगे और उनके माध्यम से अन्य सब भी समझेंगे। वह कहते हैं कि इस पद में जो व्यवस्था दी गयी है, उस पर विचार करें और,

'जो या पद का अर्थ लगावै'

जो इस पद में दिये क्रम का निर्वाह कर ले जाय अर्थात् पहले पंच महाभूतों का निरोध, पास में रहनेवाली परावाणी भी लक्ष्य का बोध कराकर शान्त, बुद्धि भी स्थिर, सोलह तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर शान्त, ईशवत् स्थिति, परमात्म-प्रेम की पाटी में श्वास को संयमित करना, भ्रम की सुरा का इन्द्रिय-संयम और दमन के आधार पर अंत करना, कुल डूबा, सहज स्थिति मिली– इस प्रकार इस पद में जो स्थितियाँ बतायी गयी हैं, संतों इस पर विचार करें, अपने में धारण कर लें। **'वहै पुरुष हम नारी'**– वही पुरुष है, वह परम पुरुष है, स्वरूप को प्राप्त महापुरुष है; और **'हम नारी'** अर्थात् हम अब स्थिति से भी न्यारी अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त हैं, इन समस्त अवस्थाओं से न्यारी अर्थात् अलग हो चुके हैं।

एक प्राचीन आख्यान है। ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी दो भार्याओं मैत्रेयी और कात्यायनी में सम्पत्ति का वितरण कर भजन करने के लिए वन को प्रस्थान किया। उनकी पत्नी मैत्रेयी उनका अनुसरण कर रही थी। दो-एक किलोमीटर जंगल में जाने के पश्चात् जब उनकी दृष्टि अपनी पत्नी पर पड़ी तो उन्होंने उससे पूछा कि वह उनके पीछे क्यों आ रही है? उसने कहा कि आपने जो धन दिया है, क्या उससे मैं शोकमुक्त होकर मोक्ष पा सकूँगी? ऋषि ने कहा– धन से तो आज तक किसी का मोक्ष नहीं हुआ। हाँ, इससे तुम्हारा जीवन-निर्वाह हो जायेगा। पत्नी ने कहा– विप्रवर! मुझे तो वह चाहिए जिससे मेरा कल्याण हो, मोक्ष हो। ऋषि ने कहा– वह तो आत्म-चिन्तन से ही सम्भव है।

ऋषि आगे बढ़ गये। उन्होंने देखा कि मैत्रेयी अब भी उनके पीछे आ रही थी। उन्होंने जानना चाहा कि वह अब क्यों उनके पीछे आ रही है। मैत्रेयी

ने बताया कि आत्म-चिन्तन के लिए वह भी गृहत्याग कर रही है। ऋषि ने बताया– चिन्तन में अपनों का साथ रुकावट पैदा करता है। मैत्रेयी ने उन्हें सादर प्रणाम किया और दूसरी राह पकड़ ली। याज्ञवल्क्य की तरह वह भी आत्मचिन्तन में लग गयी।

प्राचीन भारत में नारियों को पढ़ने-लिखने और भजन करने का अधिकार था। वे शास्त्रार्थ में भाग लेती थीं। महाराज जनक के यज्ञ में वचक्नु की पुत्री वाचक्नवी गार्गी और याज्ञवल्क्य का शास्त्रार्थ हुआ। महाराज जनक एक यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञ में सर्वोपरि विद्वान महापुरुष को दान देने के लिए उन्होंने दस हजार गायों की सींग को सोने से और खुर चाँदी से मढ़वाया था, अलंकृत किया था। गाय की सींग को सोने से मढ़ें या हीरे से, कुछ भी कर दें, उसे सोने या मिट्टी के अंतर का ज्ञान नहीं होता। वह कहीं मिट्टी का ढेर देखेगी तो सींग अवश्य मारेगी। वास्तव में सींग में सोना इसलिए लगाया जाता था कि किसी गरीब के घर जाय तो वहाँ भूखी न मरे। उसके जीने-खाने की व्यवस्था सींगों में बँधी हुई रहती थी।

सर्वोपरि विद्वान महापुरुष की प्रतियोगिता वर्षों चलती रही। गायें चारागाह में उसी प्रकार रह रही थीं। इसी क्रम में वहाँ याज्ञवल्क्य ऋषि भी पहुँचे। उन्होंने पहले किसी से कोई शास्त्रार्थ नहीं किया, अपने शिष्यों से कहा– गायों को आश्रम ले चलो। गायें हाँकी जाने लगीं, किसी ने प्रतिरोध नहीं किया; क्योंकि सभी जानते थे कि यह महापुरुष हैं। उस सभा में गार्गी भी आयी हुई थी। उसने उनको रोककर कहा,

अहं पश्यामि विप्रेन्द्र जगदेतदपौरुषम्।
नपुंसकमहं तद्वदहं स्त्री च पुमानहम्।।

हे विप्रश्रेष्ठ! इस जगत् को मैं पुरुष से हीन देखती हूँ। इनमें कोई पुरुष नहीं है। मैं ही पुरुष हूँ, मैं ही नपुंसक हूँ और मैं ही स्त्री हूँ। क्योंकि,

नपुंसकः पुमान् ज्ञेयो यो न वेत्ति हृदि स्थितम्।
पुरुषं स्वप्रकाशं तमानन्दात्मानं अव्ययम्।। *(आत्मपुराण)*

वह पुरुष होते हुए भी नपुंसक है जो हृदय में स्थित आत्मा को नहीं पहचानता। वह आत्मा पुरुष स्वरूप है, उत्तम आनन्द से युक्त है, अव्यय है। जो उस अव्यय स्वरूप को नहीं पहचानता, वह पुरुष नहीं है, पुरुष होते हुए भी नपुंसक है, नारी है, माया के आश्रित है, वह माया ही है।

कबीर का भी यही आशय है। वह कहते हैं कि इस भजन में बताये हुए आशय को जो अपने में धारण कर ले, **'अर्थ लगावै'**– इसमें बताया हुआ जो अर्थ है, सारतत्त्व है उसे अपने में सँजो ले, वह पुरुष है, परमात्मा की प्राप्तिवाला है। मैं उस स्थिति को प्राप्त कर चुका हूँ, निर्लेप हूँ।

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई। *(रामचरितमानस, 2/126/3)*

भगवन्! तुम्हें जानने के पश्चात् वह तुम ही हो जाता है। सेवक खो जाता है, स्वामी ही सदा-सदा के लिये शेष बच रहता है।

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

अनेकों प्रश्न ऐसे हैं....

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति।।

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, मंगलाचरण)

हे पार्वती! राम का गुण अत्यन्त गूढ़ है, रहस्यमय है। उसे समझकर पण्डित और मुनि तो वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं, सृष्टि में राग छोड़कर भगवान की राह में अनुरक्त हो जाते हैं और उसी चरित्र को पढ़कर, देखकर, सुनकर '**पावहिं मोह बिमूढ़**'– अत्यन्त मूढ़जन मोह को प्राप्त होते हैं। लेख एक किन्तु परिणाम दो! इसी प्रकार,

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।।

(रामचरितमानस, 2/126/7)

प्रभु के चरित्र को देख-सुनकर मूर्ख मोह को प्राप्त होते हैं किन्तु बोधसम्पन्न पुरुष सुखी होते हैं। चरित एक और परिणाम दो! वस्तुतः रामचरितमानस एक विलक्षण आध्यात्मिक ग्रन्थ है। जब यह लिखा गया तो इसके रचनाकार गोस्वामीजी ने इसके कहने-सुनने पर प्रतिबन्ध लगा दिया–

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।।

(रामचरितमानस, 7/127/3)

यह कथा शठ से, हठधर्मी से और जो मन लगाकर न सुनता हो, उससे नहीं कहनी चाहिए।

कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।।

(रामचरितमानस, 7/27/4)

लोभी, क्रोधी और कामी से यह कथा नहीं कहनी चाहिए। जो भगवान का भजन न करता हो, उससे भी नहीं कहनी चाहिए। आप ही विचार करें, यहाँ इतने लोग बैठे हैं; क्या आप सबमें लोभ नहीं है? मोह नहीं है? राग-द्वेष, काम-क्रोध नहीं है क्या? यदि ये विकार सबमें हैं तो कथा कही किससे जाय? इसी प्रकार,

अनेकों प्रश्न ऐसे हैं जो दुहराये नहीं जाते।
बहुत उत्तर भी ऐसे हैं जो बतलाये नहीं जाते।।

सारा सत्संग आपको सुनने को मिलेगा; किन्तु कुछ ऐसे प्रतिबन्ध हैं जो कहने में नहीं आते। वे केवल साधकों के लिये हैं। भूमि तैयार नहीं है, उसमें बीज डाल दें तो बीज नष्ट हो जायेगा। ऋतु आने से पहले वृक्ष भी फल नहीं देते। ठीक इसी प्रकार ईश्वर-पथ की कुछ ऐसी साधनायें हैं, पहले आप का हृदय उर्वर हो जाय तभी उन्हें करने का प्रभाव है अन्यथा कोई लाभ भी नहीं है। इसी प्रकार बहुत से उत्तर ऐसे हैं जो समय से पूर्व बताये नहीं जाते। इसी आशय का यह भजन है जिसका साधनात्मक उपयोग भी है–

अनेकों प्रश्न ऐसे हैं जो दुहराये नहीं जाते,
जो दुहराये नहीं जाते।
बहुत उत्तर भी ऐसे हैं जो बतलाये नहीं जाते,
जो बतलाये नहीं जाते।
अनेकों प्रश्न................

इसी कारण अभावों का सदा स्वागत किया मैंने,
कि घर आये हुए मिहमान लौटाये नहीं जाते,
लौटाये नहीं जाते।
अनेकों प्रश्न............

हुआ क्या आँख में आँसू जो बाहर नहीं निकले,
बहुत से गीत ऐसे हैं कि जो गाये नहीं जाते,
कि जो गाये नहीं जाते।
अनेकों प्रश्न................

बनाना चाहता हूँ स्वर्ग तक सोपान सपनों का,
मगर चादर से ज्यादा पाँव फैलाये नहीं जाते,
फैलाये नहीं जाते।
अनेकों प्रश्न...........

संसार में बहुत से प्रश्न ऐसे भी हैं जो पुनः-पुनः नहीं पूछे जाते। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने नियत कर्म के क्रियान्वयन के प्रश्न को इसी प्रकार का बताया। उन्होंने कहा– अर्जुन! वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की लौ सीधे ऊपर जाती है, उसमें कम्पन नहीं होता। योगी के अच्छी प्रकार से जीते हुए चित्त की भी यही परिभाषा है। यह सुनकर अर्जुन विचलित हो गया। उसने कहा– भगवन्! मन तो वायु से भी तेज चलनेवाला है। इसका रुक पाना तो लगभग असंभव है। अतः शिथिल प्रयत्नवाला किन्तु श्रद्धावान पुरुष आपको न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है? कहीं वह छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाता? कभी-कभी छोटी-सी बदली आकाश में आती है जिससे न तो पानी ही बरसा, न वह लौटकर मेघों से ही मिल पाती है; देखते ही देखते वह हवा के झोकों में विलीन हो जाती है। इसी प्रकार शिथिल प्रयत्नवाला बेचारा न तो आप में मिल पाया और न संसार में भोग ही भोग पाया। कहीं वह छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाता? मन का रुक पाना तो असम्भव-सा लगता है। भगवान ने कहा– नहीं, अर्जुन!

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ *(गीता, 6/35)*

निःसन्देह मन वायु से तेज चलनेवाला है किन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा यह भली प्रकार स्थिर हो जाता है। जहाँ तक साधक के नष्ट होने का प्रश्न है, ईश्वर-पथ में बीज का नाश नहीं है। इस पथ पर यदि दो कदम भी चलते बन गया तो अगले जन्म में तीसरा कदम ही आगे बढ़ेगा और पड़ेगा। माया में ऐसा कोई यन्त्र नहीं है जो प्रयत्नशील पुरुष को घसीटकर पुनः अपने में समेट ले।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। *(गीता, 2/40)*

इस धर्म का स्वल्प अभ्यास भी जन्म-मृत्यु के महान भय से उद्धार करनेवाला होता है। इस क्रिया के प्रभाव से हर जन्म में वह उस साधन को वहीं से आरम्भ करता है पिछले जन्म में जहाँ से साधन छूटा था। और,

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। *(गीता, 6/45)*

अनेक जन्मों के परिणाम में वह वहाँ पहुँच जायेगा जिसका नाम परम गति है, परम धाम है। साधना के इस प्रश्न को हल होना ही होना है। इसे दुबारा पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए सोचनीय वह है जिसने भजन आरम्भ ही नहीं किया। किन्तु यदि किसी ने गीतोक्त साधना समझकर उस पर दो कदम रख दिया, उसका मोक्ष यद्यपि तत्काल नहीं हुआ लेकिन उसके लिये मोक्ष का आरक्षण भली प्रकार हो गया। दो-चार जन्मों का अन्तराल भले ही पड़ जाय, उसे मुक्त तो होना ही होना है। अगली पंक्ति में है–

बहुत उत्तर भी ऐसे हैं जो बतलाये नहीं जाते,
जो बतलाये नहीं जाते।

बहुत से उत्तर ऐसे भी हैं जो कहने में नहीं आते। गुरु महाराज के समक्ष एक बार ऐसा ही प्रश्न आया था। चित्रकूट के अनुसुइया आश्रम में महाराज जी के आरम्भिक दिनों की घटना है। कभी-कभी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर, प्रोफेसर या डीन वहाँ पहुँचते ही रहते थे। उन दिनों चित्रकूट से अनुसुइया तक आवागमन की समुचित व्यवस्था न थी। लोग जंगल-झाड़ियों को काटते-छाँटते, हाथियों या घोड़ों पर बैठकर प्रातः चलते तो आश्रम पहुँचते-पहुँचते शाम हो जाया करती थी। उन्हें लौटकर जाने का समय ही नहीं बचता था। रात्रि उन्हीं चट्टानों पर व्यतीत करनी पड़ती थी।

साथ में आनेवाले क्षेत्रीयजन उन सबका परिचय गुरु महाराज से कराते कि महाराज जी! आप कबीर पर अधिकारिक विद्वान हैं और आप दर्शनशास्त्र के विशेषज्ञ हैं.... और आप.... जितने लड़के पी एच-डी. के लिये शोध-प्रबन्ध लिखते हैं, आपकी ही कलम से उत्तीर्ण होते हैं। आप डीन हैं और यह वाइस चांसलर साहब हैं। महाराज जी कहते– हो, भल आये। हम यहाँ जंगल में पड़े हैं, कहाँ सुनने को पायें! कुछ हमें भी सुनायें। डॉ. रामकुमार वर्मा जी ने कबीर के एक प्रसिद्ध पद 'काहे री नलिनी तू कुम्हलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।' की दो-चार पंक्तियों का आशय बताया। गुरु महाराज कुछ नहीं बोले। डॉक्टर साहब भी मौन हो गये। पुनः उन्होंने निवेदन किया कि गुरु महाराज! हमलोग सुनाने नहीं, आपसे कुछ सुनने आये हैं, जानने आये हैं। संसार भर

के दार्शनिक सिद्धान्तों को हमलोगों ने पढ़ा है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, सगुण-निर्गुण, बुद्धिवाद, विचारवाद, सुखवाद–सब कुछ हमलोगों ने देखा किन्तु भजन समझ में नहीं आता, साधना समझ में नहीं आती। हमलोगों को योग-साधना बताने की कृपा की जाय।

महाराज जी ने कहा– हो! साधना ही एक ऐसी वस्तु है जो वाणी से कहने में नहीं आती। अनिर्वचनीय है, वाणी से उसका निर्वचन किया ही नहीं जा सकता। भजन एक ऐसी क्रिया है जो किसी अनुभवी सद्‌गुरु द्वारा किसी-किसी अधिकारी के हृदय में जागृत हो जाती है, कर दी जाती है। कहने को तो आजकल दो-दो पैसे में वेदान्त बिकत है *(उन दिनों गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पुस्तक दो-दो पैसे में मिलती थी।)*। लोग उसे पढ़ते हैं और न जाने क्या लिखत भी जात हैं किन्तु भजन-साधना ही एक ऐसी धारा है जो न तो लिखने में आती है और न वाणी से कहने में ही आती है। यह तो सद्‌गुरु के द्वारा किसी अनुरागी साधक के हृदय में जागृत हो जाया करती है। यही है **'बहुत उत्तर भी ऐसे हैं जो बतलाये नहीं जाते।'**

बाल्यकाल से ही अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण के साथ रहा फिर भी वह उन्हें समझ नहीं पाया। जब उन्होंने अर्जुन को दृष्टि दी तो वह क्षुद्र त्रुटियों के लिये क्षमा-याचना करने लगा, स्तुति करने लगा–

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥

(गीता, 11/18)

भगवन्! आप अक्षय धाम हैं, परम अक्षर हैं, जाननेयोग्य एकमात्र देव हैं। आप शाश्वत धर्म के रक्षक हैं, आप सनातन पुरुष हैं, आप परम सत्य हैं..... जबकि इसके पूर्व अर्जुन ने प्रश्न-परिप्रश्नों की झड़ी लगा दी थी। उसे समझ में तब आया जब उसे दृष्टि मिल गयी और दृष्टि भी वह जिसमें भगवान का ही आलोक रहता है। यही कुछ उत्तर हैं जो वाणी से कहने में नहीं आते।

एक महात्मा के पास एक भक्त पहुँचा। उसने निवेदन किया, "भगवन्! लोग कहते हैं कि भगवान ने आपको दर्शन दिया है। कृपया भगवान को हमें

भी दिखा दें।'' उन महात्मा ने कहा, ''बेटा! वह वाणी का विषय नहीं है। भगवान अचिन्त्य हैं, अगोचर हैं।'' महात्मा उसे बार-बार समझाते किन्तु वह कुछ न कुछ पूछता ही रह गया। एक दिन महात्मा ने ईंट का एक टुकड़ा उठाया और खींचकर शिष्य के सिर पर मारा। उसका सिर फूट गया। शिष्य प्रतिष्ठित परिवार का था। वह सीधा राजा के पास जाकर बोला, ''अन्नदाता! उन महात्मा ने मेरा सिर फोड़ दिया।''

वह महात्मा बुलाये गये। राजा ने कहा, ''महात्मन्! हमारे इस राज्य में आप ही तो एक संत हैं। आज आपने इसका सिर क्यों फोड़ दिया?'' उन संत ने कहा, ''हमने किसी का सिर नहीं फोड़ा। हमने तो इसके प्रश्न का उत्तर दिया है।'' राजा ने कहा, ''यह ईंट मारना कौन-सा उत्तर है?'' महात्मा ने कहा, ''इससे पूछो कि दर्द होता है?'' शिष्य बोला, ''दर्द पूछते हैं, यहाँ जान जा रही है, प्राण जा रहे हैं।'' महात्मा ने कहा, ''वह दर्द हमें भी दिखाओ।'' शिष्य ने कहा, ''जिसे चोट लगती है, वही जानता है।'' महात्मा ने उसे समझाया, ''बेटा, इसी प्रकार भगवान जिसके हृदय में जागृत होता है, वही जानता है।''

जिन देखा सो कहा नहिं, कहा सो देखा नाहिं।
रहिमन अगम बात के, कहन सुनन को नाहिं।।

वह अगम है, अनिर्वचनीय है तो वाणी से निर्वचन करने से कैसे आयेगा? वह अगोचर है तो इन इन्द्रियों से देखा कैसे जायेगा? इसीलिए जिन्होंने देखा, उसके बारे में कुछ कहा ही नहीं और जो उन परमात्मा के बारे में कुछ कहता है, उस गरीब ने अभी परमात्मा को देखा ही नहीं।

इसी कारण अभावों का सदा स्वागत किया मैंने।

भजन की जागृति वाणी का विषय नहीं है। वह तो अनुभवी सद्‌गुरु से जागृत हो जाया करता है। विचारणीय है कि जागृतिकाल में हमारे भजन का स्तर कैसा है? हम आरम्भिक स्तर के साधक हैं, मध्यम स्तर के हैं या उन्नत श्रेणी के? यदि जागृति आरम्भिक स्तर की है तो हमें वहीं से चिन्तन करना

होगा। यह अवश्य है कि अभी रास्ता लम्बा है, अभाव है लेकिन क्रम-क्रम से चलते हुए ही उन्नत श्रेणियों में पहुँचा जा सकता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ *(गीता, 3/35)*

अर्जुन! स्वभाव से उत्पन्न कर्म करने की क्षमता के अनुसार कर्म में लगना तुम्हारा दायित्व है, तुम्हारा स्वधर्म है। स्वभाव के अनुसार, कर्म करने की क्षमता के अनुसार कर्म में लगा हुआ पुरुष परम श्रेय को प्राप्त होता है जबकि उन्नत अवस्थावालों की नकल करनेवाला भय को प्राप्त होता है। भय प्रकृति में होता है, परमात्मा में नहीं। वह परमात्मा तो अभय पद है। प्रकृति में भटकनेवाला आवागमन को प्राप्त होता है। मान लें, कोई अल्पज्ञ श्रेणी का है, अभाव में है तो इस स्तर से ही क्रमशः चलकर वह परमश्रेय तक की दूरी तय करेगा, छलाँग मारकर नहीं। इसलिए अभावों का भी स्वागत करना होता है।

भजन जब जागृत होता है, भगवान साधक को उतना ही बताते हैं जैसी उसकी अवस्था होती है। वह क्रम-क्रम से बतायेंगे और साधक को उसी का पालन करना होगा। शिशु कक्षा के छात्र को उन्नत कक्षाओं में बैठा दें, वहाँ तो कुछ सीखने का प्रश्न ही नहीं है, वह शिशु कक्षा की पढ़ाई से भी वंचित हो जायेगा। उसने पढ़ा ही कब? इसलिए नकल करनेवाला भय को प्राप्त होता है। आरम्भिक अवस्था में अभाव तो है किन्तु इनका स्वागत करें; क्योंकि,

घर आये हुए मिहमान लौटाये नहीं जाते,
लौटाये नहीं जाते।

संस्कार '**घर आये हुए मिहमान**' हैं। ये हृदय के अतीत हैं। ये शुभ हों या अशुभ भोगने में अवश्य आते हैं। जैन विचारधारा के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के साधनकाल की घटना है। वह जंगल में एक वृक्ष के नीचे बैठकर भजन कर रहे थे। समीपवर्ती गाँव का एक चरवाहा अपने बैल लेकर वहाँ आया। छाया और शान्ति देख वह वहीं बैठकर विश्राम करने लगा। बैल भी वहीं बैठ गये। थोड़ी देर पश्चात् वह उठा और बैलों को वहीं छोड़ जंगल में

घूमने चला गया। कुछ समय पश्चात् वह लौटकर पुनः वहीं आ गया किन्तु वहाँ बैल नहीं थे। उसने पूछा– महाराज! हमारे दो बैल यहाँ बैठे थे, किधर गये?

महात्मा ध्यान में लीन थे, कुछ देखा ही नहीं था इसलिए कुछ बोले ही नहीं और पुनः ध्यानमग्न हो गये। चरवाहा उन बैलों को ढूँढ़ने जंगल में चला गया। बैल समीप ही चर रहे थे। वे पुनः आकर उन महात्मा के पास ही बैठ गये। बैलों को वहाँ शान्ति मिली। जब से उन्हें जुए में जोता गया था, तब से रात-दिन डण्डा उनके पीछे लगा ही रहता था। इन महापुरुष के पास का वायुमण्डल शान्त था। पशु-पक्षी वहाँ विश्राम करते थे। दो-चार घण्टे ढूँढ़ने के पश्चात् चरवाहा उसी वृक्ष के नीचे पहुँचा तो बैलों को वहीं बैठा पाया। उसे क्रोध आ गया कि बैल यहीं थे; किन्तु इस तपस्वी ने बताया नहीं। मुझे चार घण्टे परेशान किया। यह ऐसे बैठा है मानो सुनता ही नहीं, बहरा होने का स्वाँग कर रहा है। ठीक है, इसे बहरा ही बना देता हूँ।

चरवाहे ने कुश का पौधा उखाड़ा। उसने कुश की पैनी और ठोस जड़ भगवान महावीर के कान में ठूँस दी और सरौता लेकर ऊपर पत्तियों का भाग काट दिया जिससे कोई उँगलियों से पकड़कर कुश निकाल न ले। 'लो अब कुछ नहीं सुन सकोगे' बड़बड़ाता हुआ वह बैलों को लेकर वहाँ से चला गया। भक्तों की दृष्टि पड़ी। वे कुश निकालने लगे किन्तु वह नहीं निकला। लुहार बुलाया गया। उसने सँड़सी से पकड़कर कुश खींचा। कुश के साथ रक्त निकला। महावीर स्वामी के मुख से एक चीख भी निकली। इतने में उन्हें आकाशवाणी हुई– पिछले जन्म में तुम राजा थे। तुमने एक निरपराध व्यक्ति के कान में कील ठोंकने का आदेश दिया था, स्वयं उपस्थित रहकर उसे दण्ड दिलाया था। वह प्रायश्चित आज पूर्ण हुआ।

वास्तविकता तो यह थी कि चरवाहे ने वह कुश नहीं ठोंका। वह तो जन्म-जन्मान्तरों का बदला था। वह प्रायश्चित पीछा कर रहा था, संस्कार आया और घटना घट गयी। इसलिये अभाव हमारे हृदय के ऊँचे-नीचे संस्कारों के परिणाम हैं। इनका स्वागत करना चाहिए। क्रम-क्रम से साधना में लगें। ऐसा कोई संस्कार नहीं जो भजन से न कटे। ये घर आये हुए मेहमान की तरह हैं।

ये लौटाने से नहीं लौटते। इन्हें अवश्य ही भोगना पड़ता है। महावीर स्वामी के भोगने में आया और चला भी गया। भजन की उन्नत अवस्था में कभी-कभी ये भजन से कट भी जाते हैं। भजन करनेवाले साधक के लक्षण क्या हैं?

हुआ क्या आँख में आँसू जो बाहर नहीं निकले।

जो साधक भावधारा में डूबकर भजन करते हैं, सांसारिक लोग समझ ही नहीं पाते कि यह भी सन्त हो सकते हैं या भजनानन्दी हो सकते हैं। भजन छिपकर करने का विधान है। साधक कब भजन करता है, पूज्य गुरु महाराज जी कहा करते थे, इसे बगल में बैठा हुआ व्यक्ति भी नहीं जान पाता जब तक वे स्वयं न बता दें। भजन प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। साधक की आँख में आँसू लबालब भरे होते हैं, किन्तु बाहर वे दिखाई नहीं देते।

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

(रामचरितमानस, 3/15/11)

रोमांच हो, कण्ठ अवरुद्ध हो, आँखों से अश्रुपात् हो, विरही के यही लक्षण हैं। किन्तु साधना थोड़ी ऊपर उठ जाय तो बाहर ये लक्षण प्रकट नहीं होते। यही स्थिति नन्दा नाई की थी। कोई नहीं जानता था कि वह भी भगवद्भक्त है। वह युवराज दुर्योधन का नाई था। प्रतिदिन प्रातः युवराज को सजा-सँवार कर राजसभा के लिये तैयार करना उसकी चर्या थी। वह वेश-सज्जा का विशेषज्ञ था।

एक दिन बड़े सवेरे वह राजकुमार की सेवा के लिए घर से चला। अभी वह कुछ ही कदम चला था कि पाँच-सात सन्तों पर उसकी दृष्टि पड़ गयी। उसने उन्हें सादर दण्डवत् किया और उनकी सेवा में लग गया। उन्हें नहलाते-धुलाते, खिलाते-पिलाते और विदा करते दोपहर के तीन बज गये। सन्तों को विदा कर वह अपनी सेवा पर चला। उसे याद आया कि मैं तो नित्य की तरह प्रातः राजकीय सेवा में जा रहा था, इस समय तो अपराह्न हो चला है। यह भी क्या कोई नहाने-धोने का समय है! दुर्योधन बड़ा दुष्ट है। ऐसी भूल के लिए मृत्युदण्ड से कम उसने आज तक किसी को कुछ दिया ही नहीं। आज मेरी मौत निश्चित है।

विचारों ने करवट ली। उसने सोचा– भगवान की राह में आज यह शरीर जा रहा है, संतों की सेवा मिली, मैं कितना भाग्यवान हूँ। शरीर तो किसी न किसी निमित्त से जाना ही था। आज यह प्रभु की राह में जा रहा है। वह बड़ी प्रसन्नता के साथ राजमहल की ओर चल पड़ा कि बहुत हुआ तो प्राण ही तो जायेंगे। मुख्य द्वार पर ही दुर्योधन मिल गया। उसने आश्चर्य से पूछा, ''नन्दा! तुम लौटे कैसे? अभी तो गये थे।'' नन्दा ने सोचा– मैं तो आया ही नहीं था। लगता है, यह व्यंग्य बोल रहा है। कुछ कोड़े मार कर छोड़ देता, प्राण तो बच जाते।

तब तक दो-चार मंत्री भी उधर से निकले। मंत्रियों ने कहा, ''नन्दा! तुम वापस कैसे आये? आज तो तुम्हारे चेहरे में वह मोहिनी थी कि हमलोगों को पलक हटाने का मन नहीं कर रहा था। मन करता था तुम्हें देखते ही रहें। क्या बात थी?'' दुर्योधन ने कहा, ''नन्दा! सेवा तो तुमने जन्मपर्यन्त की है किन्तु आज तुम्हारे हाथों के स्पर्श में जो आनन्द था, उसे मैं भूल नहीं पा रहा हूँ। मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मुझसे वर माँगो।'' नन्दा समझ गया कि मेरे क्षुद्र प्राणों की रक्षा के लिये भगवान को इतना कुछ करना पड़ा। प्रभु को मेरा रूप बनाकर इस नीच के चरण दबाने पड़े। प्रेम से उसके अश्रु छलक आये। अश्रु तो सदैव थे किन्तु छलके उस दिन! वह गुप्त रूप से भजनानन्दी था। कोई नहीं जानता था कि यह इतना गहरा भजनानन्दी है कि भगवान रूप बनाकर इसके आगे-पीछे चलते हैं। प्रेमाश्रुओं को रोकते हुए वह बोला, ''युवराज! पुरस्कार देना ही है तो जो माँगू, उसे दें।'' दुर्योधन ने कहा, ''ठीक है नन्दा! कर्ण को मैंने राजा बना दिया, दूसरा राजा मैं तुम्हें भी बना सकता हूँ। कोई भी सरसब्ज प्रान्त माँग लो।'' नन्दा ने सविनय कहा, ''युवराज! मुँहमाँगा देना चाहते हैं तो कृपया मेरा त्यागपत्र स्वीकार करें। आज से मैं केवल भगवान की सेवा करना चाहता हूँ।'' नन्दा की आँखें आँसुओं से भरपूर थीं। **'हुआ क्या आँख में आँसू जो बाहर नहीं निकले'**– प्रदर्शनी लगाकर भजन नहीं किया जाता।

ईश्वर-पथ में भजन की जागृति अन्तर्जगत् की क्रिया है। अन्तःकरण में भीतर ही भीतर वह साधना जागृत हो जाती है, ईश्वरीय गायन होने लगता है

किन्तु वाह्य जगत् को उसका उच्चारण सुनायी नहीं पड़ता। नारद की वीणा का गायन निरन्तर चलता रहता था। नाम का जप करते-करते बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती के पश्चात् परावाणी के प्रवेश के साथ अन्तर्जगत् में एक रिनक-धिनक धुन स्वतः प्रवाहित होती रहती है– **'हर दम हरि जी का होत अवाजा। सुनिहै कोयलिया का सुने कागा।'**– हर समय हरि की आवाज होती रहती है, धुन प्रवाहित होती रहती है जिसे केवल कोयल ही सुन पाती है, कौआ उसे क्या खाक सुनेगा? यही भाव इन पंक्तियों में भी है–

मोहन अरु मोहन मस्तों के दिल का मिलता कुछ राज नहीं।
उर अन्दर बातें होती हैं, बाहर आती आवाज नहीं।।

भगवान और उनके मस्तों के, उनके अंतरंग भक्तों के दिल का रहस्य समझ में नहीं आता, उनके राज का पता नहीं चलता। **'दिल अन्दर बातें होती हैं'**– भगवान हृदय से ही जागृत होकर बातें करते हैं, **'बाहर आती आवाज नहीं'**– दूसरे लोग उसे नहीं सुन पाते। गुरु महाराज बताया करते थे, ''हो, भगवान ने हमको आगरा में पतित होने से बचा लिया, देहरादून में उन्होंने कहा– 'यहाँ रुको।' उज्जैन में उन्होंने कहा– 'तुम्हारे जैसा गुरु और चेला संसार में आज कोई नहीं है। तुम किस जत्थे में शामिल होने जा रहे हो?' यहाँ यह कहा, वहाँ वह कहा।'' कई दिन हमने ऐसा सुना तो पूछा, ''गुरु महाराज! क्या भगवान भी बातें करते हैं?'' वह बोले, ''हाँ हो, भगवान ऐसे ही बतियावा करत हैं जैसे हम तुम बैठ के बतियाईं। घण्टों बतियाईं और क्रम न टूटे। सारे भरोसे छोड़कर उनमें डूबकर चिन्तन में लगने पर यह अवस्था सबके लिए सुलभ है।''

यह सुनकर हम उदास हो गये। भजन तो जैसा बताया जायेगा, हम जैसे-तैसे कर ही लेंगे लेकिन बातें करने के लिये हम भगवान को कहाँ पायेंगे? लगभग पन्द्रह मिनट पश्चात् महाराज जी बोले, ''काहे घबड़ात है, तोहूँ से बतियैहैं।'' आश्वासन मिला, ढाढ़स भी बँधा लेकिन भूखा तो तभी संतोष करता है जब पेट में पाव आध सेर भोजन जाय। ठीक ढाई महीने पश्चात् वही जागृति मिल गयी। भगवान के द्वारा बातों का सिलसिला आरम्भ हो गया। हमने

सोचा, यह हमें कोई बीमारी तो नहीं हो गयी? हमने महाराज जी से बताया कि सम्पूर्ण शरीर आधे-आधे इञ्च पर जोरों से फड़कता है। महाराजजी बोले, ''बस बेटा, राम-रावण का युद्ध शुरू हो गया। अब रावण मारा जायेगा, राम का राज्याभिषेक होगा, तभी इससे छुटकारा मिलेगा, बीच में कोई विराम नहीं है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई शुरू हो गयी है, भजन जागृत हो गया है। बेटा! अब भगवान तोके कहै-सुनै लगे।'' वास्तव में,

तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।

(विनयपत्रिका, 89)

यह अयुक्त मन तभी वश में होता है जब प्रेरक के रूप में स्वयं प्रभु रोकथाम करने लगें, मार्गदर्शन करने लगें। यही भजन की जागृति है।

तन तंत्री के ही तारों से, अनुराग राग बज जाते हैं।
आवाज सुनाई देती है, दिखलायी पड़ता साज नहीं।।
मोहन अरु मोहन मस्तों के.......

तन एक तंत्र है जिसमें आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ तन के तंत्र हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अन्तःकरण के तंत्र हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से प्रभु में लगन लग गयी, इन्द्रियों ने बाहर झाँकना बन्द कर इष्ट की ओर देखना आरम्भ किया, बस इष्ट से तार जुड़ गया। अनुराग का राग बजने लगता है। यह एक ऐसी अवस्था है कि '**बहुत से गीत ऐसे हैं जो गाये नहीं जाते**'– गीत लगातार चलता रहता है, 'रिनक धिनक धुनि' उठती रहती है। वही साधारण नाम बैखरी से मध्यमा, मध्यमा से पश्यन्ती और पश्यन्ती से जहाँ परा में प्रवेश किया तो एक धुन सुनाई पड़ने लगती है। वह ईश्वरीय गायन है। उसी को सामवेद भी कहते हैं; क्योंकि वह परमात्मा में समत्व दिलानेवाला गायन है। अन्त में साधक कहता है–

बनाना चाहता हूँ स्वर्ग तक सोपान सपनों का।

मैं स्वर्ग तक सपनों की सीढ़ियाँ लगाना चाहता हूँ। सपने की सीढ़ियों से आप कैसे चढ़ेंगे? संसार एक स्वप्न है–

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना॥

(रामचरितमानस, 3/38/5)

हे पार्वती! मैं अपना निजी अनुभव कहता हूँ कि सत्य हरि और हरि का भजन है। जगत् तो एक सपना है। एक सपना घड़ी-दो घड़ी का होता है जबकि यह सपना 70–80 साल का है। और क्या है? अंत में सबकुछ यहीं छोड़कर जाना होता है। फिर कोई लौटकर यह परिवार, इन अर्जित मर्यादाओं को देखने नहीं आता। अगले जन्म में दूसरे ही माता-पिता, दूसरा ही परिवार और दूसरी ही प्रतिष्ठायें! इस प्रकार जगत् है तो एक स्वप्न, फिर भी इसी स्वप्न से मैं स्वर्ग का सोपान बनाना चाहता हूँ। वास्तव में ईश्वर-पथ की, भजन-पथ की सात भूमिकायें हैं। पहली है शुभेच्छा– शुभ के लिए इच्छा। दूसरा सोपान है सुविचारणा– उसी के लिये विचार-मंथन, चिन्तन। तीसरी सीढ़ी है तनुमानसी– साधक पहले वाह्य जगत् का चिन्तन कर रहा होता है, धीरे-धीरे जब चिन्तन पकड़ में आ जाता है तो वह बाहर से सिमटते-सिमटते मन में ही तनवाला हो जाता है। चिन्तन मन से होने लगता है। चौथी सीढ़ी है सत्त्वापत्ति– सत्य का पक्ष सुदृढ़ होता जाता है। पाँचवाँ सोपान असंसक्ति है अर्थात् वाह्य पदार्थों में आसक्ति नहीं रह जाती, संग-दोष से अलग रहना। छठीं भूमिका है पदार्थभावना– पदार्थ अर्थात् संसार का अभाव।

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥

(रामचरितमानस, 2/130/7)

न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रह गया जिसकी कामना करें, न नरक नरक के रूप में रह गया कि जिससे भयभीत हों। जहाँ भी दृष्टि पड़ी, आराध्य देव को उपस्थित पाया– **'जहँ तहँ देख धरे धनु बाना'**, **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्'**– जगत् में जो कुछ भी है, सबमें ईश्वर का निवास पाया। सातवीं सीढ़ी है तुर्यगा! मन वेगवान है इसलिए पूर्व मनीषियों ने इसे अश्व की संज्ञा दी है। साधना की सातवीं कक्षा में पहुँचने पर मनरूपी अश्व पर सवार होने की क्षमता आ जाती है। अब जिधर हम चाहें मन को उधर ही लगा सकते हैं। अब मन हमें नहीं भगायेगा। इस अवस्था को पार

करने पर स्थिति मिल जाती है। स्वप्नवत् संसार में योग की ये सात क्रमोन्नत भूमिकायें हैं, सोपान हैं। यह सोपान बनाना सभी चाहते हैं, ईश्वर-पथ में लगे हैं तो यह अवस्था भी आयेगी, स्वर में विचरण करने की अवस्था आयेगी, प्रकृति पुरुषोत्तम में परिवर्तित हो जायेगी किन्तु इस पथ पर क्रम-क्रम से चलना पड़ता है; क्योंकि,

मगर चादर से ज्यादा पाँव फैलाये नहीं जाते,
कि फैलाये नहीं जाते।

शरीर को ढँकने के लिए उतना ही पाँव फैलाना उचित है जितनी लम्बी चद्दर है। शीतकाल में कभी-कभी सवारी साधन न मिल पाने से यात्रीगण रेलवे स्टेशनों पर फँस जाते हैं। वे छोटा-सा रूमाल कभी कान में बाँधते हैं तो उसे कभी शिर पर लपेटते हैं। कुछ बड़ा गमछा है तो वे कभी लेटकर उसे पाँव में दबाते हैं तो कभी उसे शिर के नीचे दबाते हैं। उतना ही पैर फैलाना होता है, जितनी लम्बी चद्दर है; बाहर पाँव निकाले ही नहीं जा सकते।

बादशाह अकबर के पास एक बुनकर अच्छा-सा ऊनी चद्दर लेकर पहुँचा। चद्दर बादशाह को पसन्द आ गयी, यद्यपि वह बादशाह की लम्बाई से कुछ छोटी थी। अकबर ने कहा, ''यह चद्दर हमें बहुत पसन्द है। हमें ठण्ड लग रही है। हम लेटकर इसे ओढ़ना चाहते हैं। हमें इसे उढ़ाओ।'' मंत्रियों ने प्रयास किया किन्तु चद्दर छोटी होने के कारण कभी बादशाह का सिर तो कभी पैर खुला ही रह जाता था। बादशाह को क्रोध आ गया, ''तुमलोग खाक मंत्री हो, बीरबल होता तो आज यह कष्ट न झेलना पड़ता।''

मंत्री मुस्कराये कि जब चादर ही छोटी है तो इसमें भला बीरबल ही क्या कर लेगा? बादशाह ने आदेश दिया कि बीरबल को बुलाया जाय। मंत्रियों ने ही षड्यन्त्र कर उसे दरबार में आने पर प्रतिबंध लगवाया था, जबकि अकबर को बीरबल के बिना चैन ही नहीं मिलता था। बीरबल को बुलाया गया। बादशाह बोले, ''बीरबल! हमें ठण्ड लग रही है। यह चद्दर हमें पसन्द है। इसे हमें शीघ्र उढ़ाओ।'' बीरबल बोला, ''जहाँपनाह! इसे शिर के नीचे दबाकर, मुँह में दबाकर रखिये, छोड़ियेगा नहीं।'' उसने बादशाह के दोनों पाँव मोड़कर

चद्दर के भीतर दबा दिया, शरीर को चारों तरफ से ढँक दिया। बादशाह ने कहा, ''यह क्या गुस्ताखी करते हो?'' बीरबल बोला, ''उतना पाँव पसारिये, जितनी लम्बी सौर। जब ठण्ड लग रही है और यह चादर ही केवल एक सहारा है तो आपको यह करना ही होगा हुजूर!'' मसला हल हो गया।

साधन में छलाँग मारकर स्वर्ग के सोपान तक आप नहीं पहुँच सकते। यदि आप क्रम-क्रम से चलेंगे तो शनैः-शनैः प्रकृति का दबाव कम होता जायेगा। ज्यों ज्यों दैवी चिन्तन ऊपर उठेगा, दैवी सम्पद् प्रवाहित होती जायेगी और परमदेव परमात्मा का आलोक मिल जायेगा। **'मगर चादर से ज्यादा पाँच फैलाये नहीं जाते.....फैलाये नहीं जाते।'**

भजन की एक अलग मस्ती होती है। उसके लिए अभी कोई शब्द बना ही नहीं है।

चरण कमल की मौज को, कहुँ कैसे अनुमान।
कहबे को शोभा नहीं, देखा ही परमान।।

संत कबीर कहते हैं कि भगवान के चरण कमल के ध्यान में जो मौज-मस्ती है, उसका कोई कैसे अनुमान लगा सकता है और कैसे उसे व्यक्त किया जा सकता है? कहने में उसका सौन्दर्य नहीं रह जाता। उसे तो देखना ही प्रमाण है। उसके लिये तो क्रमशः चलें, उस अवस्था को प्रत्यक्ष करें। वह वाणी का विषय नहीं है।

बहुत उत्तर भी ऐसे हैं जो बतलाये नहीं जाते,
जो बतलाये नहीं जाते।

भगवत्पथ में कुछ दूरी तक महापुरुष बताते हैं। अधिकांश अनुभवगम्य हैं। उसे भगवान ही प्रेरणा के द्वारा समझा दिया करते हैं, वाणी से नहीं बताते। **'अनेकों प्रश्न ऐसे हैं जो दुहराये नहीं जाते....जो दुहराये नहीं जाते।'** सांसारिक जीवन में भी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि जिनका समाधान नहीं मिलता। माता कुन्ती ने कुतूहलवश महर्षि दुर्वासा के दिये हुए आशीर्वाद, मन्त्र का जप कर दिया। सूर्य चले आये। एक बालक गोद में डाल दिया। कुन्ती ने प्रार्थना की, ''यह मुझे नहीं चाहिए। मैं कुमारी

हूँ, समाज क्या कहेगा?'' सूर्य ने कहा, ''मैं मंत्र से बँधा हूँ। पुत्र तो तुम्हें लेना ही होगा। तुम्हारा कौमार्य सुरक्षित है। देवी! यह बालक महान पराक्रमी होगा।'' फिर भी लोक-लज्जा एक बहुत बड़ी मर्यादा है। उस नवजात शिशु को गंगा में बहाना पड़ा।

विद्याध्ययन के उपरान्त कौरव-पाण्डव राजकुमारों की प्रतियोगिता में कर्ण ने अर्जुन के कौशल को चुनौती दी। कुन्ती ने अपने प्रथम पुत्र कर्ण को पहचान लिया। दर्शक-दीर्घा में ही वह मूर्च्छित हो गयी। महाभारत-युद्ध के दौरान वह एक बार कर्ण के पास गयी, उससे कुछ माँगा भी, किन्तु पाण्डव कर्ण की वास्तविकता से परिचित नहीं थे।

जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया, दिवंगत स्वजनों को युधिष्ठिर जलाञ्जलि देने लगे तो कुन्ती का धैर्य छूट गया। वह बोली, ''बेटा युधिष्ठिर! कर्ण को भी जलाञ्जलि दो।'' युधिष्ठिर ने कहा, ''माताजी! उस सूतपुत्र को भला मैं क्यों जलाञ्जलि दूँ?'' कुन्ती ने वह वृत्तान्त आद्योपान्त कह सुनाया... मंत्र, मंत्र का प्रभाव, सूर्य से कर्ण का जन्म....। युधिष्ठिर मूर्च्छित हो चले, ''उफ! आपने इतना बड़ा सत्य छिपा लिया। भाई के द्वारा भाई को मरवा डाला।'' कुन्ती ने कहा, ''बेटा! लोकलज्जा। भूल हो गयी, घटना घट गयी, उसे फिर दुहराकर सुधारा नहीं जा सकता।'' देवी कुन्ती का प्रश्न ऐसा ही था। उस व्यथा से वह जीवनपर्यन्त तड़पती रही, घुटती रही किन्तु उसे अपना कोई समाधान नहीं मिला। इसी प्रकार अध्यात्म में साधना भी ऐसा ही एक प्रश्न है। इसमें आपसे दो कदम चलते बन गया तो आगे तीसरा ही पड़ेगा। आपका मोक्ष तो नहीं हुआ किन्तु मोक्ष का आरक्षण भली प्रकार हो गया। इसके पश्चात् माया में ऐसा कोई पराक्रम नहीं है, माया चाहकर भी आपको इस पथ से लौटा नहीं सकती, अपने में मिला नहीं सकती।

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

तोड़ना टूटे हुए दिल को बुरा होता है

ॐ जय गुरुदेवम् जय गुरुदेव
ॐ अशरण शरण शरण प्रभु लेव
ॐ जय गुरुदेवम् जय गुरुदेव

राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता।।

(रामचरितमानस, 1/165/6)

गुरु कें बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।।

(रामचरितमानस, 1/79/8)

ॐ जय गुरुदेवम् जय गुरुदेव

एक पण्डितजी रिश्तेदारी में अपने समधी के यहाँ चले गये जहाँ उनके पुत्र का विवाह हुआ था। उनके समधीजी बड़े स्नेह से मिले, उनका चरण धुलाया, आसन के लिए पीढ़ा बिछा दिया। दोपहर का समय था इसलिए भोजन के लिए बैठा दिया, पानी भी रख दिया; लेकिन हाथ जोड़कर बोले, ''समधी देवता! हम पूरा गाँव घूमकर चले आये किन्तु कहीं से आधा किलो आटा भी नहीं मिला। बताइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ? यदि मैं झूठ बोलूँ तो यह गंगाजल हमारे हाथ में है।'' तब लड़के के पिता, जो समधीजी आये थे, उन्होंने कहा, ''देखिये समधीजी! हमारे भी हाथ में गंगाजल है। यह बात आपको और मुझे छोड़कर तीसरा कोई जानने न पाये।'' उन्होंने पानी का गिलास उठाया, पीया और चले गये।

घर पहुँचकर उन्होंने एक बड़ी बैलगाड़ी में आटा, दाल, चावल, घी, गुड़, तेल इत्यादि गृहस्थी का सारा सामान भरकर, साथ में एक हल और दो बैल भी समधीजी के घर भेज दिया। अभावग्रस्त समधी के दिन बदलने लगे, बरक्कत होने लगी। दस वर्ष पश्चात् वही समधी पुनः दरवाजे पर आये। उनके आते ही तुरन्त सूजी का हलवा बन गया, पकौड़ी छन गयी, गरमागरम चाय

आ गयी। स्वल्पाहार करा देने के उपरान्त वह बोले, ''समधीजी! चलिये, जरा खेत-क्यारी भी देख आयें, तब तक भोजन भी तैयार हुआ जाता है।''

खेत की मेंड़ पर पहुँचकर वह बोले, ''देखो समधीजी! यह जो दस बीघा धान देख रहे हैं, यह सब हमारा ही है – इस भुजा के प्रताप से! और इधर आप जो यह कलमी आमों का बगीचा देख रहे हैं, यह सब इसी भुजा के प्रताप से है। और जो यह सबमर्सिबल पम्प देख रहे हैं, यह इस भुजा के प्रताप से है। और यह तीन मंजिला घर भी इसी भुजा के प्रताप से है।'' चार-छः बार जब उन्होंने यह दुहराया तब वह समधीजी बोले, ''क्यों समधीजी! आपको याद है, दस साल पहले हम इसी घर में आये थे, तब आप जवान थे। तब इन भुजाओं का बल कहाँ चला गया था जब हम भूखे ही उठकर चले गये थे?'' वस्तुतः वैभव बढ़ जाने पर ऐंठन सहज ही आ जाती है। यह एक भयंकर दोष है। कौन जानता है कि कब किसके साथ क्या घटित हो जाय? किसे ज्ञात था कि राजा–महाराजा, बादशाह–नवाब इत्यादि के भी दिन बदल जायेंगे। उन्हीं किलों में काई लग गयी, खण्डहर हो गये जिनका कभी भव्य उद्घाटन हुआ करता था।

कबीर गर्व न कीजिये, रंक न हँसिये कोय।
अजहूँ नाव समुद्र में, ना जाने का होय।।

अहंकार नहीं करना चाहिए और किसी के समक्ष गरीबी आ ही गयी तो उस पर हँसना नहीं चाहिए। वह हँसी का पात्र नहीं है। कदाचित् किसी की गरीबी आपकी निगाह में आ ही गयी तो उसकी मदद करें। **'रंक न हँसिये कोय'** आप सोचते हैं कि हमारी परिस्थिति तो ठीक-ठाक है; किन्तु सन्त कबीर कहते हैं, नहीं! **'अजहूँ नाव समुद्र में, ना जाने का होय।'**- न जाने अगले पल क्या घट जाय! इस तरह की घटनायें आये दिन आँखों के सामने होती ही रहती हैं।

एक दिन राजा रामचन्द्रजी विहरत पुष्प विमाना।
एक दिन सीता करत रुदनवाँ, खबर लेत हनुमाना।
सबै दिन होत न एक समाना।।

जो रामजी किसी दिन पुष्पक विमान में टहल रहे थे, एक दिन ऐसा भी आया था कि सीता चोरी चली गयीं। रामजी जंगल-जंगल पेड़-पत्तियों और मृगों से पूछ रहे थे– **'तुम देखी सीता मृगनयनी।'** *(रामचरितमानस, 3/29/9)* हनुमानजी उनकी खोज-खबर लेने गये थे। अस्तु, **'सबै दिन होत न एक समाना।'**

एक दिन राजा युधिष्ठिर के घर सेवक श्री भगवाना।
एक दिन द्रौपदी करत रुदनवाँ चीर दुःशासन ताना।
सबै दिन होत न एक समाना।।

एक दिन ऐसा भी था कि महाराज युधिष्ठिर के घर सेवक के रूप में भगवान श्रीकृष्ण पत्तल उठाया करते थे। इस घटना के तुरन्त बाद उसी महाराज युधिष्ठिर की राजरानी द्रौपदी चीत्कार कर रही थी। शूरवीर पतियों के समक्ष **'चीर दुःशासन ताना'**। सभी असहाय निरुपाय बैठे थे। सभी दिन बराबर नहीं होते। इसी आशय का यह भजन है–

तोड़ना टूटे हुए दिल को बुरा होता है।
जिसका कोई नहीं, उसका तो खुदा होता है।

माँग कर तुझसे खुशी लूँ, मुझे मंजूर नहीं।
किसका माँगी हुई दौलत से भला होता है।।
जिसका कोई नहीं........

लोग नाहक किसी मजबूर को बुरा कहते हैं।
आदमी सब अच्छे हैं, पर वक्त बुरा होता है।।
जिसका कोई नहीं........

किसको करें क्यों करें फरियाद ये अपनी।
जितना तकदीर में लिखा अदा होता है।।
जिसका कोई नहीं........

विपरीत परिस्थितियों को झेलते-झेलते व्यक्ति हताश हो जाता है, उसका दिल टूट जाता है। अब टूटे हुए दिल को और अधिक तोड़ना बहुत बुरा होता

है। लोग समझते हैं 'वह असहाय है'। कदापि नहीं; क्योंकि जिसका संसार में कोई नहीं होता, उसके लिये भगवान स्वयं रक्षक हो जाते हैं। कुछ न होने पर मनुष्य के हृदय में भगवान की याद बढ़ जाती है। वह विनती करने लगता है कि प्रभु! दुनिया में सब जी-खा रहे हैं। क्या आपके दरबार में मेरे ही लिये कुछ नहीं रह गया? इस प्रकार प्रार्थना बढ़ जाती है। भगवान सब सुनते हैं, उसका कल्याण अवश्य करते हैं।

पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे– हो! आदमी के दिन सदैव एक जैसे नहीं रहते, दिन बदलते देर नहीं लगती। भगवान ही सबके होते हैं। अभाव है तो घबड़ाओ मत। एक प्रभु की शरण पकड़ लो। वह आपके दोष नहीं देखते।

सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।।

(रामचरितमानस, 5/43/2)

भगवान कहते हैं– जीव मेरे सन्मुख हो भर जाय, तो उसके करोड़-करोड़ जन्मों के पाप एक पल में समाप्त हो जाते हैं। अस्तु, भगवान आपके पाप नहीं देखते। वे केवल इतना देखते हैं कि कोई जीव मेरे सन्मुख हुआ या नहीं? जिस क्षण जीव सन्मुख हुआ, वे सँभालने लग जाते हैं। इसलिए मान लें, यदि सृष्टि में कहीं ठिकाना नहीं है तो आप मन, कर्म और वचन से एक प्रभु की शरण हो जायँ। भगवान से कुछ माँगना नहीं। क्या भगवान नहीं जानते कि यह तड़प रहा है, इसको क्या जरूरत है? इसकी तड़फन कैसे दूर होगी, क्या वह नहीं जानते? इसीलिए एक भक्त कहता है–

माँग कर तुझसे खुशी लूँ, मुझे मंजूर नहीं।
किसका माँगी हुई दौलत से भला होता है।।

प्रभो! आपसे खुशी माँग लूँ; यह सुविधा दो, वह सुविधा दो– इस प्रकार का माँगना मुझे स्वीकार नहीं है; क्योंकि माँगी हुई दौलत से कभी किसी का भला हुआ है क्या? ऐसा ही एक प्रसंग महाभारत का है। कौरव और पाण्डवों के मध्य सन्धि का अन्तिम प्रयास भी असफल हो गया। तब दुर्योधन ने पूछा, "केशव! आप किसकी ओर से रहेंगे?" भगवान ने कहा,

''दुर्योधन! मैं समदर्शी हूँ! संसार में मेरा न कोई शत्रु है, न मित्र है। मेरे पास जो पहले आयेगा, मैं उसकी ओर रहूँगा।''

शकुनि ने दुर्योधन को पीछे खींचकर कहा, ''बेटा दुर्योधन! काम बन गया। अर्जुन भजनानन्दी है। प्रातः उठकर वह नहायेगा-धोयेगा, एक घड़ी बैठकर आँख मूँदेगा। तू रात ही रात रथ दौड़ाकर कृष्ण के पास पहले पहुँच। यदि हम कृष्ण को अपनी ओर करने में सफल हो गये तो इन पाण्डवों के पास बचेगा क्या! फिर तो हमारी विजय निश्चित है।''

दुर्योधन रात में ही चल पड़ा। उधर भगवान ने देखा कि अहंकारी दुर्योधन चला आ रहा है। वह है बड़ा मूर्ख! वह अपने बैठने के लिए अच्छी-सी जगह अवश्य ढूँढ़ेगा। उन्होंने स्वर्णजटित सिंहासन अपने सिरहाने की ओर रखा। पलंग पर लेटते ही प्रगाढ़ निद्रा में चले गये। दुर्योधन पहुँचा और अपने पहले पहुँचने की सफलता पर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने भगवान को दण्ड-प्रणाम भी नहीं किया, कमर पर हाथ रखकर कक्ष का निरीक्षण करने लगा कि मैं बैठूँ कहाँ? कृष्ण के पास कितना ही क्यों न हो, है तो कंस से हड़पा हुआ राज्य, कहाँ मैं मूर्धाभिषिक्त नरेश का युवराज! यहाँ मेरे अनुरूप जगह कहाँ मिलेगी? दाहिने-बायें दृष्टि दौड़ायी तो सिंहासन पर नजर पड़ गयी। उसने अनुमान लगाया कि लगता है यह व्यवस्था मेरे लिये ही की गयी है। ये यदुवंशी कुछ भी हों, आतिथ्य-सत्कार करना बढ़िया जानते हैं। वह अकड़कर सिरहाने रखे गये सिंहासन पर बैठकर कृष्ण के जागने की प्रतीक्षा करने लगा।

इसी बीच अर्जुन भी वहाँ पहुँचा। उसे पहले या पीछे पहुँचने की चिन्ता ही नहीं थी कि यह शर्त भगवान ने ही रखी है, वही इस समस्या को उलझायें या सुलझायें! वह तो समर्पित सेवक था। उसने पहुँचते ही श्रीकृष्ण के चरणों में सादर प्रणाम किया और चरणों की ओर फर्श पर बैठकर हाथ जोड़कर भगवान के मुखारविन्द का दर्शन करता रहा। इतने में प्रभु की आँखें खुलीं। बैठते हुए वह बोले, ''अर्जुन! कब आये?'' अर्जुन कुछ उत्तर देता, इसके पहले की दुर्योधन गुर्राया, ''नहीं, पहले मैं आया हूँ।'' श्रीकृष्ण ने कहा, ''भाई! कह रहे हो तो तुम पहले ही आये होगे किन्तु आना तब होता

है जब आमना-सामना हो। मेरी दृष्टि पहले अर्जुन पर पड़ी है। आड़ में पता नहीं कौन बैठा है, कहाँ क्या पड़ा है?'' दुर्योधन घबड़ाया कि लगता है कृष्ण ने हमें पुनः ठग लिया। किन्तु श्रीकृष्ण बोले, ''दुर्योधन! तुम बिल्कुल चिन्ता मत करो। मेरे पास दो विकल्प हैं। मेरे पास अजेय नारायणी सेना है जिसने आज तक पराजय का मुँह नहीं देखा है, दूसरी ओर मैं अकेला हूँ किन्तु मैं युद्ध नहीं करूँगा, शस्त्र नहीं उठाऊँगा। तुम दोनों एक-एक विकल्प चुन लो।''

दुर्योधन बोला, ''केशव! पहले मैं आया हूँ इसलिए पहले मैं ही माँगूँगा।'' श्रीकृष्ण ने कहा, ''हाँ, हाँ, तुम मुझे माँग लो।'' दुर्योधन बिगड़ा, ''फिर धोखाधड़ी। जब आपको शस्त्र नहीं उठाना है, युद्ध नहीं करना है तब आपसे बाँसुरी बजवाकर, 'ता थैया ता थैया' कराकर रासलीला करवानी है क्या? कृपया हमें नारायणी सेना दीजिए।'' भगवान ने कहा, ''एवमस्तु।'' दुर्योधन सेना लेकर चला तो घूमकर कृष्ण और अर्जुन की ओर दृष्टिपात किया और बहुत खुश हुआ कि अब इस ग्वाले के पास बचा ही क्या! अब बजाया करे बाँसुरी और देता रहे उपदेश।

इधर भगवान ने पूछा, ''अर्जुन! तुम...'' अर्जुन बोला, ''प्रभो! पहले माँगने का अवसर मिलता तब भी मैं आपको ही माँगता। मुझे नारायणी सेना नहीं चाहिए थी। मुझे सृष्टि का कोई बल, कोई सुविधा नहीं चाहिए। मुझे केवल आप चाहिये। प्रभो! सदैव से मेरी एक ही इच्छा थी कि आपका वरदहस्त सदा मेरे शिर पर रहे। अब आप जैसे-जैसे अनुमति देंगे, युद्ध करता रहूँगा।'' ठीक अठारहवें दिन नारायणी सेना का नामोनिशान नहीं रह गया। ग्यारह अक्षौहिणी सेना के अधिपति दुर्योधन की जाँघें टूट चुकीं थी, वह धूल में लेट रहा था और जीवनभर सच-झूठ बोलकर अंधे पिताजी धृतराष्ट्र और मामा शकुनि की सहायता से षड्यन्त्र रचकर दुर्योधन ने जो कुछ अर्जित किया था, सब-का-सब पाण्डवों को मिल गया जबकि पाण्डवों को उसकी कामना ही नहीं थी। वे तो केवल क्षात्रधर्म का पालन कर रहे थे। सारा वैभव उन्हें हठात् मिल गया। विजय अर्जुन की हुई। जहाँ भगवान रहते हैं वहाँ विजय है, श्री है, विभूति है और वहीं अचल नीति भी है। अस्तु, भगवान से कदाचित् माँगना ही पड़े

तो केवल एक वस्तु माँगें कि प्रभो! मैं आपके निगाह के नीचे सदैव रहूँ। बस, यही आशीर्वाद दें कि आपका वरदहस्त सदैव रहे। वे और भी जोर दें तो बोलें– प्रभो! केवल आप चाहिये। मनु ने भगवान को माँगा। अर्जुन ने भी भगवान को माँगा जबकि दुर्योधन ने ऐश्वर्य, बल और शक्ति को माँगा। सृष्टि में जो कुछ है, नश्वर है। आज है तो कल नहीं रहेगा। सबकी नाव समुद्र में है, डूबते देर नहीं लगेगी। इसलिए भगवान से माँगना है तो इस क्षणभंगुर शरीर के सुख-सुविधा की सामग्री नहीं।

जप तप करके स्वर्ग कमाना, यह तो काम मजूरों का।
देना सब कुछ लेना कुछ नहीं, बाना झाँकर झूरों का॥

जप किया, तप किया, संयम किया और भगवान ने कुछ कहा तो स्वर्ग का सुख माँग लिया। यह तो मजदूरों का काम है कि दिनभर श्रम करते रहते हैं, पूछते भी रहते हैं– मालिक! अब कितनी देर है? हमारी मजदूरी का क्या होगा? यही सब माँगा तो हमने नश्वर माँगा; क्योंकि भगवान ही अजर-अमर हैं, शाश्वत हैं इसलिए उन्हें ही सर्वस्व समर्पण कर दें, अपने को उनकी गोद में डाल दें। **'देना सब कुछ किन्तु लेना कुछ नहीं'**– उनके हो भर जायँ। यही फकीरों की रहनी है। उन्हें भौतिक सुख-सुविधा या सुन्दरता नहीं चाहिए। वस्तु तो वस्तु है। उसकी आयु है। काल पाकर वह नष्ट हो जायेगी। आप तो पुनः दरिद्रता के उसी फुटपाथ पर आ गये। **'माँगकर खुशी लूँ, यह तो मुझे मंजूर नहीं'** कारण? **'किसका माँगी हुई दौलत से भला होता है।'**

भगवान प्रेम के भूखे हैं। प्रेमी के लिये भगवान ऋणी हो जाया करते हैं। हनुमान ने भरत को संदेशा दिया कि प्रभु राम आ गये। इतना सुनकर भरत बोले–

एहि सन्देस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

(रामचरितमानस, 7/13-14)

हे तात! मैं तुमसे उऋण नहीं हूँ। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। 'प्रभु आ गये'– इस संदेश के समान सृष्टि में कुछ है ही नहीं। मैं इसके बदले क्या देकर

आपसे उऋण हो सकता हूँ? हनुमान ने कहा– प्रभो! आज मैं सबकुछ पा गया जो आपको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। आपको पाकर हमें अन्य कुछ चाहिए भी नहीं। इसलिए निष्काम कर्मयोग ही आदर्श है। कदाचित् आप कामना करेंगे तो वस्तु की ही तो करेंगे जबकि वस्तु नश्वर है। कामना करनी ही है तो भगवान की करें। भगवान अविनाशी हैं। वह जहाँ रहेंगे, अविनाशी पद रहेगा। वह सर्वज्ञ हैं इसीलिए वहाँ सर्वज्ञता रहेगी। वह लक्ष्मीपति हैं अतः उनके साथ ऐश्वर्य छाया रहता है। मनुष्य अल्पबुद्धि से जो सोचता है, उससे अनन्त गुना आगे की व्यवस्था भगवान के पास रहती है तो क्यों नहीं 'तुलसी मूलहिं सींचिये फूलै फलै अघाय।'

अगली पंक्ति में कवि कहता है–

लोग नाहक किसी मजबूर को बुरा कहते हैं।
आदमी सब अच्छे हैं, पर वक्त बुरा होता है।।

लोग अकारण ही किसी को बुरा कहते हैं। कोई भी बुरा नहीं है। सभी आदमी अच्छे होते हैं, केवल समय बुरा होता है जबकि समय बदलता जाता है– **'सबै दिन होत न एक समाना।'**। आज की हमारी करनी कल का वक्त बन जाती है। महाभारत में महाराज नहुष का आख्यान इसी तथ्य की ओर इंगित करता है।

महाराज नहुष बड़े सदाचारी, साधुसेवी और धर्मात्मा थे। सैकड़ों यज्ञ करके उन्होंने इन्द्रपद को प्राप्त किया था। देवताओं का सर्वोच्च पद! अब वरुण, कुबेर, अग्नि, काल, यम इत्यादि सभी उनके चरणों में नतमस्तक होने लगे। उनका स्वभाव बदलने लगा। उन्होंने देखा कि इतनी शक्ति मेरे पास! वह लगे देवताओं की गणना करने। वह देवता पूर्वनरेश देवेन्द्र कहाँ हैं? सेवकों ने बताया, ''वह तो तपस्या करने चले गये।'' नहुष ने कहा, ''उनकी धर्मपत्नी महारानी शची कहाँ हैं? उनको मेरी सेवा में उपस्थित करो।''

शची को सूचना मिली। वह देवगुरु बृहस्पति के पास पहुँची– ''गुरुदेव! लगता है मृत्युलोक से कोई सिरफिरा आ गया है। उससे मेरी रक्षा कीजिए।'' बृहस्पति बड़े मेधावी थे। वह बोले, ''देवी! आप चिन्ता न करें। उसे सन्देश

दे दें कि ब्राह्मणों की पालकी में बैठकर वह आपके पास आये तो आप सेवा में प्रस्तुत हो जायेंगी।''

एक समस्या खड़ी हो गयी कि स्वर्ग में ब्राह्मण कहाँ? जो भी वहाँ गया, देवता हो गया। पृथ्वी पर भी उनकी संख्या न के बराबर। यूरोप में पादरी होते हैं, अरब देशों में मौलाना-मौलवी मिल जायेंगे। मंदिर में सेवा करनेवाला पुजारी हो गया। ब्राह्मणों की खोज होने लगी। आफत आ गयी। भागमभाग होने लगी। हाँ, सोनभद्र से खोजते तो चौबेजी मिल जाते, बनारस से पाण्डेयजी मिल सकते थे; किन्तु उस जमाने में पाण्डे, तिवारी, चौबे.....– ये उपाधियाँ नहीं थीं। उस समय खोजने पर मिले पुलह, पुलस्त्य, अत्रि, अंगिरा, अगस्त्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र। ये उस युग की सर्वोपरि विभूतियाँ थीं। सब के सब ब्रह्मर्षि थे। इन्द्र के अनुचर इन्हीं को पकड़कर ले गये और नहुष की पालकी में जोत दिया। शची देवी ने कहलाया, ''अब आप एक महीने इसी पालकी में बैठकर स्वर्ग का भ्रमण करें जिससे लोग आपके ऐश्वर्य को देख तो लें। जिस दिन महीना पूरा हो उस दिन मेरे महल में आ जायँ।

पालकी में बैठकर नहुष स्वर्ग के इस छोर से उस छोर तक घूमने लगा। महीना पूरा हुआ। जब पालकी का रुख शची देवी के महल की ओर घूमा, नहुष को पालकी की चाल धीमी प्रतीत हुई। वह सोच रहा था कि कितना शीघ्र पहुँच जाय। उतावलेपन के आवेश में उसने महर्षि अगस्त्य को पैर से मारकर 'सर्प-सर्प' कहा अर्थात् शीघ्रता से चलने को कहा। अगस्त्य ने कहा, ''जाओ सर्प ही हो जाओ, तुम अजगर हो जाओ।'' नहुष ने क्रोध से अगस्त्य की ओर देखा। उसकी दृष्टि में इतनी शक्ति थी कि किसी को क्रोध से देखभर लेता तो वह भस्म हो जाता किन्तु महर्षि पर उसकी दृष्टि का प्रभाव नहीं पड़ा; क्योंकि श्राप पहले ही मिल चुका था, उसकी आँखें अजगर की हो गयीं थीं। वह पालकी से नीचे गिरने लगा तो चिल्लाया, ''त्राहि माम शरणागतम्! आप तो दयालु हैं, ब्रह्मस्थित महापुरुष हैं। मुझ मंदबुद्धि से महान भूल हो गयी।'' अगस्त्य ने कहा– ''राजन्! श्राप तो मिल चुका, यह जन्म तो आपको भोगना ही पड़ेगा।''

नहुष गिड़गिड़ाया, ''भगवन्! मेरा उद्धार करें।'' अगस्त्य ने कहा, ''जिस दिन तुम ब्राह्मण की महिमा सुन लोगे, उस दिन तुम्हें इस अधम योनि से मुक्ति मिल जायेगी और तुम पुनः इन्द्रपद प्राप्त कर लोगे।'' नहुष ने पूछा, ''भगवन्! मुझे ब्राह्मण की महिमा कौन सुनायेगा?'' अगस्त्य ने कहा, ''अभी तो संसार में ऐसा कोई नहीं है जो ब्राह्मण की महिमा जानता हो। हाँ, द्वापर युग में महाराज युधिष्ठिर वनवासकाल में तुम्हारे पास आयेंगे। वही तुम्हें ब्राह्मण की महिमा बतायेंगे। उसे सुनकर तुम इस अधम योनि से मुक्त हो जाओगे।'' नहुष ने पूछा, ''भगवन्! मैं खाऊँगा क्या?'' अगस्त्य ने कहा, ''दिन के चौथे पहर में जो तुम्हारी अधिकृत भूमि में आयेगा, कितना भी बलवान होगा, वह वश में हो जायेगा। वही तुम्हारा भोजन होगा।''

युग बीतने लगे, द्वापर आया, युधिष्ठिर इत्यादि का जन्म हुआ। शकुनि और दुर्योधन के षड्यन्त्र चले। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन सबका वनवास हुआ। भीम शिकार के शौकीन थे। प्रातः होते ही वह गदा उठाते और शिकार पर निकल जाते। एक दिन शाम होने को आयी और वह लौटे ही नहीं। युधिष्ठिर ने कहा, ''हम चार भाई यहाँ हैं, केवल भीम नहीं है। मेरी बायीं भुजा और वाम नेत्र फड़क रहे हैं। लगता है, भीम संकट में है।'' ऋषि धौम्य को लेकर युधिष्ठिर उन्हें ढूँढ़ने गये।

घनघोर जंगल में किसी एक आदमी को ढूँढ़ना कठिन होता है फिर भी भीम को ढूँढ़ना बड़ा आसान था; क्योंकि भीम द्वारा आहत कई एक शेर, हाथी, गैंडे और जंगली भैंसें कराह रहे थे। बहुतों ने दम तोड़ दिया था। वृक्ष उखड़े पड़े थे। वह जिधर से निकल गया, मानो सेना के बुलडोजर उधर से निकल गये हों। रास्ता साफ हो जाया करता था। इन्हीं चिह्नों का अनुसरण करते युधिष्ठिर वहाँ पहुँच गये जहाँ एक अजगर से लिपटा भीम निश्चेष्ट पड़ा था।

युधिष्ठिर ने कहा, ''भीम! पृथ्वी पर जन्म लेनेवाला कोई प्राणी तुम्हें वश में नहीं कर सकता। यह अजगर वेश में कोई देवता हैं, यक्ष या कोई किन्नर हैं; यह कौन हैं?'' तब भीम ने कहा, ''भय्या! यह हमलोगों के पूर्वज

महाराज नहुष हैं। यह इन्द्रपद से च्युत हुए हैं। इन्होंने किसी वरदान के बल से मुझे वश में कर लिया है।'' युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर कहा, ''राजन्! मेरे भाई को आप मुक्त कर दें। मैं जब तक जंगल में रहूँगा, आपके भोजन की व्यवस्था करता रहूँगा।'' नहुष ने कहा, ''राजन्! हम किसी का दिया हुआ भोजन खा ही नहीं सकते। दिन के चौथे पहर में जो भी यहाँ आता है, वही हमारा भोजन होता है। दूसरी वस्तु तो हम खा ही नहीं सकते। कल तक खड़े रहे तो आप सबको भी खा लूँगा। क्योंकि एक ही जीव खाने का मुझे अधिकार है इसलिए इसे छोड़ूँगा नहीं।''

युधिष्ठिर ने पुनः कहा, ''जिसने सैकड़ों यज्ञ-महायज्ञ कर इन्द्रपद प्राप्त किया, इतने धर्मात्मा आप-जैसे महापुरुष से ऐसा कौन-सा अपराध हो गया जो अजगर की अधम योनि में पड़े हैं?'' तब नहुष को पूर्वजन्म याद हो आया। उन्होंने बताया, ''ब्राह्मणों के श्राप से ऐसा हुआ है।'' युधिष्ठिर ने कहा, ''अरे! ब्राह्मणों का श्राप! क्या आप ब्राह्मण की महिमा नहीं जानते?'' नहुष ने कहा, ''राजन्! आप ही बतायें, ब्राह्मण किसे कहते हैं?''

ब्राह्मणः को भवेद् राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिरः।
ब्रवीह्यति मति त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे।।

(महाभारत, वनपर्व, 180/20)

युधिष्ठिर ने बताया–

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः।।

(महाभारत, वनपर्व, 180/21)

''हे नागेन्द्र! सत्य अर्थात् एक परमात्मा में निष्ठा, दान अर्थात् उस ब्रह्म में मन-क्रम और वचन से समर्पण, क्षमा, मनसहित इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, धारावाही चिन्तन, धारणा-ध्यान-समाधि जिसके स्वभाव में ढल गया हो, दया इत्यादि शील से जो युक्त है वही ब्राह्मण कहा जाता है।'' अजगर वेषधारी नहुष ने कहा–

शूद्र तु यद्‌भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥

(महाभारत, वनपर्व, 180/25)

''ये गुण तो शूद्र में भी पाये जा सकते हैं और इन गुणों से हीन ब्राह्मण भी पाये जाते हैं।'' युधिष्ठिर ने कहा, ''फिर तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और न वह ब्राह्मण ब्राह्मण ही है।''

यत्रै तल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रै तन्नभवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

(महाभारत, वनपर्व, 180/26)

''जिसकी वृत्ति इन लक्षणों से युक्त हो वही ब्राह्मण है, और जहाँ ऐसी वृत्ति नहीं है उसे शूद्र जानना चाहिए।'' इतना सुनना था कि अजगर का शरीर छूट गया। भीम तत्काल मुक्त हो गये और वह अजगरवेशधारी नहुष इन्द्र के स्वरूप में परिवर्तित हो गये। उन्होंने कहा, ''राजन्! युगों से मैं इस अधम योनि में पड़ा हुआ था। आपके कृपाप्रसाद से आज मैं पुनः अपना इन्द्रपद पा गया। महाभारत युद्ध होनेवाला है। मेरा आशीर्वाद है कि विजय आपकी होगी।'' उन्होंने आशीर्वाद दिया और चले गये। अस्तु, शकुनि का षड्यन्त्र, दुर्योधन की मूर्खता, अंधे धृतराष्ट्र का पुत्र-मोह – ये सब तो निमित्त मात्र थे। महाभारत के भीषण युद्ध की संरचना में इनमें से किसी का कोई दोष ही नहीं था। युगों पूर्व जब पृथ्वी के नक्शे में हस्तिनापुर का अस्तित्व भी नहीं था, महाभारत-युद्ध की घोषणा हो चुकी थी। 'एक युधिष्ठिर जन्म लेंगे और वनवास में जायँगे'– यह पहले से ही निर्धारित था। मनुष्य होनी के हाथ का खिलौना मात्र है और कुछ नहीं। यह होनी थी इसलिए **'लोग नाहक ही किसी मजबूर को बुरा कहते हैं। आदमी सब अच्छे हैं.....।'**

एक दिन युधिष्ठिर महाराजा थे और उन्हीं के जीवन में एक दिन ऐसा भी आया कि वह असहाय होकर वन-वन भटक रहे थे। आज की हमारी करनी भविष्य बनकर हमारे सामने आती है। जो हो रहा है, वह भूतकाल के संस्कारों में अंकित है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अन्त में कहते हैं–

किसको करें, क्यों करें फरियाद यह अपनी।
जितना तकदीर में लिखा अदा होता है।।

प्रार्थना करें भी तो किससे? उस भाग्यरेखा को टालने की क्षमता ही किसमें है? प्रार्थना भी क्यों करें जब प्रयोजन सिद्ध होना ही नहीं है? जितना भाग्य में लिख गया है, समय पर अवश्य प्रकट होता है। यह युधिष्ठिर के तकदीर में लिखा युगों के पश्चात् प्रकट हो गया। भाग्य का बोझ तो उठाना ही पड़ता है। किन्तु कैसी भी भाग्यरेखा हो, भजन, संयम और एक परमात्मा के प्रति समर्पण से शान्त हो जाती है, दुर्भाग्य की रेखाएँ तितर-बितर हो जाती हैं। **'जिसका कोई नहीं'**– संसार में कोई सहारा नहीं, भाग्य ने तो उठाकर पटक दिया गन्दी नाली में, आगे-पीछे सहायक कोई नहीं; फिर भी हताश होने की जरूरत नहीं है; क्योंकि,

जिसका कोई नहीं उसका तो हरि होता है।

जिसका कोई नहीं उनकी रक्षा भगवान करते हैं। नारदजी एक बार ऐसी ही विपदा में पड़ गये। दच्छ प्रजापति के कुल के एक हजार लड़कों को उपदेश देकर उन्होंने साधु बना दिया। इससे दच्छ को दुःख हुआ कि इन्होंने तो हमारे वंश का ही उच्छेद कर डाला। उन्होंने नारद को श्राप दे दिया कि दो घड़ी से अधिक एक स्थान पर न रुकें, किसी को लम्बा सत्संग सुनाकर साधु न बना सकें। इसके पश्चात् नारदजी जहाँ भी जाते, दो घड़ी तो ठीक रहते, इसके पश्चात् उनके शिर में दर्द होने लगता। वह वहाँ से चल देते तो दर्द समाप्त हो जाता था। इसी क्रम में विचरण करते हुए नारदजी हिमालय की तलहटी में पहुँच गये। गंगा के किनारे उन्हें एक पवित्र गुफा दिखायी पड़ी। वह वहाँ बैठकर चिन्तन में डूबे तो,

सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी।।

(रामचरितमानस, 1/124/4)

हरि का स्मरण करते ही श्राप की गति समाप्त हो गयी। इसलिये कैसा भी कुसंस्कार हो, एक प्रभु का सुमिरण करने से सौभाग्य में बदल जाता है। इस सुमिरन की शुरुआत नाम से है। दर्शन-स्पर्श-प्रवेश-विलय और स्थिति जब तक नहीं मिल जाती, तब तक यह नाम साथ चलता है। नाम इतना अधिक जपें कि भगवान खुद पूछने लगें कि बेटा! तुम्हारी इच्छा क्या है? वह अनुकूल हो जायँ। जहाँ वह अनुकूल हुए तो,

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिन्धु अनल सितलाई।।
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही।।

(रामचरितमानस, 5/4/2-3)

गरुड़जी! सुमेरु पर्वत शिर पर आनेवाला होगा, आयेगा अवश्य क्योंकि न आये तो कैसे ज्ञात होगा कि सुमेरु जितना बड़ा पहाड़ शिर पर आनेवाला था। उसे किसी ने फेंका नहीं है। वह तो किसी जन्म की आपकी ही कमाई है जो पहाड़ जैसी विपत्ति बनकर आ रहा है; किन्तु वह रजकण जैसा भारहीन होकर गिर जायेगा, आपको पता भी नहीं चलेगा, '**सुमेरु रेनु सम ताही**'। किसको? '**राम कृपा करि चितवा जाही।**'– परमतत्त्व परमात्मा राम कृपा करके एक निगाह देख भर लें। जहाँ उनकी दृष्टि पड़ी तो '**गरल सुधा**'– विष अमृत में परिवर्तित हो जायेगा, '**रिपु करहिं मिताई**'– शत्रु मित्र हो जायेंगे और वह भवसागर जिसे सभी अथाह कहते हैं, 'गोपद' बन जायेगा। गो माने मनसहित इन्द्रियाँ। उनका जितना आयतन है आपके लिए समुद्र उतना ही रहता है। गाय के चलने से जमीन पर बने गड्ढे में जितना पानी भर जाता है, अथाह संसार समुद्र उतना ही रह जाता है कि एक बार पाँव रखें तो गाय के खुर के दस-पाँच गड्ढे आप पार कर जायेंगे। किसके लिए? जिसे प्रभु करुणा करके एक निगाह देख लें। प्रभु करुणा करेंगे कब? जब आप उनका सुमिरण करेंगे।

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के।।

(रामचरितमानस, 1/31/9)

मंत्र महान मणि है जिसके प्रभाव से संसार के विषयरूपी विषधर के असाध्य कुअंक भी तत्काल मिट जाते हैं। भाग्य कोई स्थायी वस्तु नहीं है।

नाम-जप से असाध्य कुअंक भी मिट जाते हैं इसलिए नाम का जप करें। दो-ढाई अक्षर का एक छोटा-सा नाम जो उन प्रभु को पुकारे। बीच में कहीं भ्रान्ति न पैदा कर दे। ऐसा नहीं कि सोमवार को शंकरजी, मंगलवार को हनुमानजी, बुधवार को बुद्धिदाता गणेशजी की पूजा– रोज आपकी निष्ठा बदलती चली जाय। इसलिए जो उन प्रभु को पुकारे, ओम् अथवा राम– दो-ढाई अक्षर का कोई एक नाम, किसी भाषा में नाम लेकिन सम्बोधन सीधा उसका हो। भाषा चाहे जो हो, नाम बहुत छोटा होना चाहिए। बहुत बड़ा पँवारा श्वास में आयेगा ही नहीं। इसी साधारण नाम को पहले जिह्वा से, फिर श्वास से, सुरत से जपना होगा। श्वास से जपने में भगवान का लम्बा-चौड़ा नाम साथ नहीं देगा, श्वास में ढल नहीं पायेगा। इसलिए छोटा-सा नाम, किसी भाषा का कोई भी नाम जो सीधे परमात्मा का बोध कराता हो, ऐसा नाम चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाना खाते, पानी पीते, शौच जाते, जीवन की हर क्रिया के साथ, जब तक सचेत रहें, नाम याद आया करे। सदैव स्मरण बना रहे तो सोने में सुगंध है। हाँ, प्रतिदिन सुबह-शाम बैठकर आधा घण्टा-बीस मिनट समय अवश्य दें। यदि किसी दिन समय न दे पायें तो रात में अधिक समय देकर इतना नाम-जप अवश्य पूर्ण कर लें। नियम में शिथिलता या कुछ दिनों तक जप छूट जाने से पुनः नये सिरे से आरम्भ करना होता है। भगवान के दरबार में निश्चित समय पर उपस्थिति का बड़ा महत्व है।

नाम-जप के नियम को सदैव याद रखने के लिए ही कुछ पूर्वजों ने त्रिकाल सन्ध्या का नियम बनाया। प्राचीनकाल में घड़ी जैसे यन्त्र का आविष्कार जब नहीं था तो सूर्योदय के समय जिसमें सूर्य का उदय और रात्रि के अवसान की संधि, सायंकाल सूर्य का अवसान और रात्रि के प्रवेश की संधि और मध्याह्न के समय आधा व्यतीत हुआ और आधा दिन के उतार की सन्धि– इन तीन अवसरों पर प्रभु के स्मरण का विधान था। कुछ मनीषियों ने पाँच बार प्रभु के स्मरण का विधान रखा किन्तु सद्‌गुरुओं ने अपने शिष्यों के लिए अहर्निश चिन्तन का उपदेश दिया,

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लौ लाय।
सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय।।

अर्थात् जब तक जगें, सुमिरन करें। सुरत भली प्रकार लग जाय तभी निद्रा-लाभ करें जिससे निद्रा में भी कोई अनर्गल स्वप्न न आने पाये। यदि स्वप्न आये तो भगवान की महिमा दिखाई पड़े। **'सुरत डोर लागी रहे, तार टूट न जाय।'**– सुरत की डोर अर्थात् मन की दृष्टि इष्ट में लगी रहे, क्रम टूटने न पाये। सोकर उठने पर सुरत वहीं लगी मिले जहाँ रात को सोते समय छोड़ा था। गुरु महाराज बताया करते थे– हो! जब सुबह हमार आँख खुले तो भक्क देना स्वरूपवा हृदय में आ जाय। सुरतिया सीधे नाम पर जाय, स्वाँस पर। इस प्रकार **'आठ पहर लागा रहे, तार टूट ना जाय।'**– दिन-रात के आठों प्रहर श्वास पर ध्यान केन्द्रित रखना महात्माओं का भजन है लेकिन आरम्भिक अवस्थावालों के लिए चलते-फिरते, उठते-बैठते, खुरपी चलाते, लड़का खिलाते अर्थात् जीवन के हर मोड़ पर नाम याद आवे। सुबह-शाम बैठकर आधा घण्टा समय अवश्य दें। भगवान जानते हैं कि यह जीव मुझे पुकार रहा है। वह यह भी जानते हैं कि इसकी चाहत क्या है? वह देंगे। भविष्य में आप जो माँगेंगे, वह मिलेगा। भगवान यह भी देखते हैं कि किसमें इसका हित है, घुमा-फिराकर वही देते हैं और मोक्ष मुनाफे में मिल जाता है क्योंकि परमात्मा के चिन्तन-पथ में बीज का नाश नहीं होता, आरम्भ का नाश नहीं होता। माया के पास ऐसा उपाय नहीं कि आपके चिन्तन को मिटा दे। भगवत्पथ में यदि वस्तु माँगते हैं तो वस्तु भी मिलेगी और श्रेय पद तो परमात्मा का अतिरिक्त उपहार है। वस्तु का जब तक समय होगा, आपको तब तक वहाँ टिकना पड़ेगा। ज्योंही वस्तु की आयु समाप्त हुई, जहाँ से साधन छूटा था, वहीं से पुनः आगे बढ़ना होता है। और,

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परमां गतिम्। *(गीता, 6/45)*

अनेक जन्मों के परिणाम में भजन करनेवाला वहाँ पहुँच जाता है जिसका नाम परम गति है, परम धाम है। इस जीवन और इसके नश्वर भोगों का क्या? विश्वविजयी सम्राटों को भी अधूरी इच्छायें लेकर जाना पड़ा। यूनान के सिकन्दर महान ने एक महापुरुष सन्त डायोजनिस का नाम सुन रखा था। राजकीय कार्यों की व्यस्तता में उसे इतना अवसर ही नहीं मिला कि उन सन्त

का दर्शन कर सके यद्यपि मन में उनके दर्शन की प्रबल लालसा बनी रहती थी। एक बार वह सामरिक अभियान पर जा रहा था। उनके सेनापति ने घोड़े से उतरकर निवेदन किया, ''जहाँपनाह! जिस सन्त का आप दर्शन करना चाहते थे, वह यहीं सामने धूप में बैठे हैं। सिकन्दर रथ से उतर पड़ा। उन महात्मा को सादर प्रणाम किया।

वह महात्मा बोले, ''पहले बता तू कौन है?'' वह बोला, ''यहाँ का सम्राट सिकन्दर!'' महात्मा ने कहा, ''ओह! इधर एक महीने से गाड़ियों में भरकर जो अस्त्र-शस्त्र इस रास्ते से जा रहे हैं, क्या सब तुम्हारे हैं?'' सिकन्दर ने कहा, ''हाँ सब मेरे हैं।'' महात्मा ने पूछा, ''सब चला गया या अभी कुछ शेष है?'' सिकन्दर मुस्कराया और बोला, ''अरे! अभी तो पूरी सेना पीछे आ रही है। वह भी शस्त्रों से सुसज्जित है।'' महात्मा ने कहा, ''अच्छा यह बताओ, तुम जा कहाँ रहे हो?'' सिकन्दर ने चार-छः देशों के नाम गिनाये कि इस-इस देश को जीतने जा रहा हूँ। इसके पश्चात् काबुल और उसके आगे भारत! महात्मा ने पूछा, ''इसके बाद?'' उसने बताया, ''पूरा संसार।'' वह महात्मा बोले, ''अरे तुम्हारे पास समय कहाँ है? समय को व्यर्थ क्यों खोते हो? यह कुटिया दो व्यक्तियों के भजन के लिये पर्याप्त है, दो रोटी का प्रबन्ध भी है। एक मैं हूँ, दूसरे तुम रह सकते हो। यही रुक जाओ, भजन करो।''

अभी तक सिकन्दर को प्रशंसा करनेवाले लोग ही मिले थे। उस दिन कोई सच-सच कहनेवाले सन्त मिले थे। सन्त वचन से पहले तो उसे ठेस लगी किन्तु मन में उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वह सँभलकर बोला, ''भगवन्! अब तो निकल चुका हूँ। लौटूँगा तो आपके पास अवश्य आऊँगा।'' वह महात्मा बोले, ''पगले! जब लौटकर नहीं आओगे तब क्या होगा?'' भारी मन से सिकन्दर चला गया। जहाँ-तहाँ लड़ाइयाँ हुई, विजय सिकन्दर को मिली। भारत में प्रवेश के साथ ही महाराज पुरु से कड़ा मुकाबला हुआ। किसी तरीके से वह जीत तो गया किन्तु सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। सिकन्दर लौट पड़ा। रास्ते में ही वह बीमार पड़ गया। बचने की आशा क्षीण हो चली थी। उसने उन महात्मा को पत्र भेजा कि भगवन्! मैं आपके ही पास आ रहा

था, महलों में राजकाज देखने नहीं जा रहा था किन्तु अब लगता है आप तक पहुँच नहीं पाऊँगा। लगभग बत्तीस वर्ष की आयु में सिकन्दर चल बसा।

कहाँ गये वो दारा सिकन्दर, कहाँ वह बारहदरी गयी।
चले गये सब अजल के मुख में, न खुश्की न तरी गयी॥

विश्वविजय की कामना लिये सिकन्दर अल्पायु में चला गया। इसलिए यह निश्चित नहीं है कि हम आप अस्सी साल या नब्बे साल के होकर ही जायेंगे। कल के पल को भी कोई ठीक नहीं कहा जा सकता। यदि दुर्लभ मानव-तन मिला है तो....यदि कहीं कोई सहारा न मिलता हो तब भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। चौबीसों घण्टे का सहारा हैं मात्र एक प्रभु! इसलिए विनोद में, गपशप में, हँसी-ठिठोली में या केवल जीवन-निर्वाह में समय न गँवायें।

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जाकर मन राता॥

(रामचरितमानस, 7/126/1-2)

यह धर्म वह धर्म.... धर्म के नाम पर भ्रान्तियाँ कि बिल्ली पूजो, चूहा पूजो– यह धर्म नहीं है। मानस जिनके हृदय की उपज है उन भगवान शंकर ने निर्णय दिया कि वही सर्वज्ञ है, सब कुछ जानता है, गुणी है, ज्ञाता है, पण्डित है, दानदाता है, वही धर्मपरायण है, वही अपने कुल का वास्तविक रक्षक है। कौन? एक परमात्मा के चरणों में जिसका मन अनुरक्त है।

नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥

(रामचरितमानस, 7/126/3)

दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाकें पद सरोज रति होई॥

(रामचरितमानस, 7/48/8)

वह नीति में निपुण है, वह परम सयाना है, वेदों का सिद्धान्त भली प्रकार उसने जाना है, भले ही वह पढ़ा-लिखा न हो फिर भी वेदों के सिद्धान्त से भली प्रकार अवगत है, वह दक्ष है, सभी लक्षणों से सम्पन्न है, एक

परमात्मा के चरणों में जिसका मन अनुरक्त है। अन्त में मानस के रचयिता भगवान शिव कहते हैं– हे पार्वती!,

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

(रामचरितमानस, 7/127)

वह सारा कुल कृतार्थ है, भाग्यवान है जिस कुल में किसी एक का उन परमतत्त्व परमात्मा में, उस अविनाशी भगवान में प्रेम जागृत हो जाय।

रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥

(रामचरितमानस, 7/78 क)

इसलिए एक परमात्मा के भजन में समय दें। **'तोड़ना टूटे हुए दिल को बुरा होता है'** आप समझते हैं कि वह असहाय है। कदापि नहीं! **'जिसका कोई नहीं उसका तो खुदा होता है.....'**– उसके तो हरि होते हैं।

॥ ॐ श्रीसद्गुरुदेव भगवान की जय॥

सिद्ध है सोई अतीत कहावै

सिद्धपुरुष किसे कहते हैं और सिद्धि क्या होती है? संन्यास कब होता है, किस अवस्था का नाम है? परमहंस किसे कहते हैं? विजया हवन कब होता है? साधुता का प्रमाण-पत्र कौन देता है?– इसी आशय का सन्त कबीर का एक भजन है–

सिद्ध है सोई अतीत कहावै, जो करम की रेख मिटावै।
सिद्ध है सोई......

तिरगुन जटा बाँधि न्यारे करि, पाँचों पकड़ भगावै।
शब्दातीत की सनद लखे तब, तन पर खाक रमावै।।
सिद्ध है सोई......

स्वाँसा सुरुआ सत्य की वेदी ब्रह्म की अगिनि जलावै।
करम काट समुदय कर हीना विजया होम करावै।।
सिद्ध है सोई......

आसन मारि गगन पर बैठे अनहद नाद बजावै।
आतम तत्त्व तूमड़ी दरसे, तब संन्यास कहावै।।
सिद्ध है सोई......

सदगुरु कुंजी देह महल की मुक्ति किवाड़ खुलावै।
परमहंस पर पुरुषै चीन्हे, तब परलोक सिधावै।।
सिद्ध है सोई......

अक्षर माँहि निरक्षर दरसे सहज भाव मन लावै।
शिव शक्ति जब एक भई, तब कस न परमपद पावै।।
सिद्ध है सोई......

मान बड़ाई एकौ न रखाई, दुविधा दूर भगावै।
कह कबीर यहि गति के योगी, बहुरि न भव जल आवै।।
सिद्ध है सोई......

वही सिद्ध है, वही अतीत, त्रिगुणातीत, प्रकृति से अतीत कहलाता है। कौन? जो कर्म की रेखा मिटा दे। सिद्धि को लेकर तरह-तरह की मान्यतायें हैं। इन अटकलों पर विराम लगाते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ***(गीता, 18/45)***

अर्जुन स्वभाव से उत्पन्न क्षमता के अनुसार कर्म में लगा हुआ पुरुष जिस विधि से परम सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू मुझसे सुन। वह विधि है किस प्रकार?

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ***(गीता, 18/46)***

जिस परमात्मा से यावन्मात्र जीव जगत् की उत्पत्ति हुई है, जो कण-कण में जीवनी-शक्ति के रूप में प्रवाहित है, उस एक परमात्मा को स्वभाव से उत्पन्न कर्म करने की क्षमता के अनुसार पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

गीता योग-दर्शन है। परमात्मा से मिलन का नाम योग है। उस शाश्वत सत्य, तत्त्व से मिलन का नाम योग है। योगविधि यज्ञ है, वह एक साधना पद्धति है। उस विधि को कार्यरूप देना कर्म है। विधि निश्चित है इसलिए इसे नियत कर्म कहा गया। दुर्लभ मानव-तन मिला है तो यही आपका कर्त्तव्य-पथ है इसलिए इसे कार्यम् कर्म, इसी को तदर्थ कर्म अर्थात् उस प्रभु के निमित्त कर्म, यही है मदर्थ कर्म– जो सामने उपस्थित हैं उन सद्गुरु के लिये कर्म। कामना रखकर करेंगे तो भटकना पड़ेगा इसलिए करना चाहिए निष्काम कर्म। इस प्रकार कर्म के साथ अनेक विशेषण हैं किन्तु कर्म केवल एक! योगविधि यज्ञ है। उसे क्रियान्वित करना कर्म है। कर्म माने आराधना! कर्म माने चिन्तन!

अब तक तो हमने भजन किया नहीं था इसीलिए जब भजन करने बैठते हैं तो मन लगता ही नहीं। शरीर से आप बेशक दस घण्टे बैठ सकते हैं लेकिन जिस मन को भजन में लगना चाहिए वह पन्द्रह मिनट भी स्थिर नहीं रहता इसलिए व्यर्थ समय क्यों नष्ट करते हैं। भजन कैसे हो? इसके

लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने एक ही कर्मपथ को चार भागों में बाँट दिया। जिसमें पहली श्रेणी शूद्र या क्षुद्र अल्पज्ञ साधक है जो संत सद्गुरु की सेवा करे, उनकी वाणी श्रवण कर टूटी-फूटी साधना में लगे।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्। *(गीता, 18/44)*

महापुरुष की सेवा और सान्निध्य से साधना हृदय में जागृत हो गयी तो वही शूद्र वैश्य श्रेणी का हो जाता है। अब वह प्रकृति के द्वन्द्व से आध्यात्मिक सम्पद् शनैः-शनैः अर्जित करने लग जाता है, संयम बढ़ता जाता है। प्रकृति के संघर्ष को झेलने की क्षमता आने पर वही साधक क्षत्रिय श्रेणी का हो जाता है। अब उसमें सब भावों पर स्वामिभाव, शौर्य, धैर्य, तेज और मन की लगाम भगवान के हाथ में हो जाती है। भगवान से जो निर्देश मिलता है, उसका पालन करने लगता है। धीरे-धीरे विकार समाप्त हो जाते हैं, ब्रह्म में विलय की योग्यता आने लगती है। धारणा, ध्यान, समाधि, इन्द्रियों का दमन, मन का शमन– ये योग्यतायें स्वभाव में, आदत में ढल जाने पर वही साधक ब्राह्मण श्रेणी का कर्ता हो जाता है। यह ब्राह्मण श्रेणी भी है अधूरी। क्रमशः भगवान का दर्शन, उनका स्पर्श, उनमें प्रवेश और स्थिति मिल जाने पर कर्मपथ की चारों श्रेणियाँ समाप्त हो जाती हैं। उस समय स्वभाव से उत्पन्न कर्म करने की क्षमता के अनुसार कण-कण में व्याप्त एक परमात्मा का अर्चन-पूजन कर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। परम तत्त्व परमात्मा विदित हो जाय, उसमें स्थिति मिल जाय– इसका नाम है सिद्धि, परम सिद्धि! जो भजन नहीं करता वह तो शूद्र भी नहीं है। यह श्रेणी भी उतनी ही कीमती है मानो किसी उच्च पाठ्यक्रम में प्रवेश मिल गया हो, जैसे कोई विदेश जाने के लिए वीजा (अनुमति-पत्र) हेतु परेशान हो और वीजा हाथ लग गया हो।

वस्तुतः **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'** *(गीता, 2/69)*– जगत्रूपी रात्रि में सबलोग अचेत पड़े हुए हैं, उनमें संयमी पुरुष जग जाता है। यदि कोई निश्चेष्ट पड़ा है, ऊपर से सर्प ही क्यों न निकल जाय, उसे भान भी नहीं होगा; कोई दुर्घटना ही घटित हो जाय, वह प्रतिकार भी नहीं कर सकता। जब संयम की प्रथम सीढ़ी पर वह आरूढ़ होता है उस

दिन साधना की पहली किन्तु सौभाग्यशाली अवस्था है अल्पज्ञ शूद्र! विधि जागृत हो गयी तो वैश्य! संघर्षशील हो गया तो क्षत्रिय और ब्रह्म में विलय की योग्यता आने पर वही ब्राह्मण है। ब्रह्म में प्रवेश, विलय और स्थिति मिलने पर श्रेणियाँ समाप्त हो जाती हैं, साधना पूर्ण हो जाती है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि साधना में उन्नत अवस्थावालों की नकल न करें। स्वभाव से कर्म करने की जो क्षमता उपलब्ध है, उसी क्षमता से जिन परमात्मा से यावन्मात्र जीव-जगत् की उत्पत्ति हुई है, उनका भली प्रकार चिन्तन-अर्चन कर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। ऐसा नहीं है कि शूद्र भूत-भवानी पूजे, वैश्य लक्ष्मी पूजे, क्षत्रिय दुर्गा और ब्राह्मण सरस्वती का पूजन करे। पूजा तो एक परमात्मा की ही करनी है। उस पूजन के चार क्रमोन्नत सोपान हैं जिनका नाम वर्ण है। यही शास्त्रविधि है और,

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।। *(गीता, 16/23)*

जो इस शास्त्रविधि को त्यागकर, कामनाओं से प्रेरित होकर अन्य-अन्य विधियों से भजते हैं, उनके जीवन में न तो सुख है, न सिद्धि है और न परमगति है। अर्थात् गीतोक्त नियत कर्म का पालन शास्त्रविधि है। '**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते**' *(गीता, 16/24)* इसलिए तुम्हारे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में यह शास्त्र ही प्रमाण है। इसको भली प्रकार समझकर अर्जुन! आचरण कर। तू मुझे प्राप्त होगा। अतः गीता के अनुसार सिद्धि है कण-कण में व्याप्त परमात्मा का सध जाना। यही आशय सन्त कबीर का है–

सिद्ध है सोई अतीत कहावै

वह सिद्धपुरुष है, वह त्रिगुणातीत है। कौन?–

जो करम की रेख मिटावै.....सोई अतीत कहावै।

जो भाग्य की रेखा को मिटा दे। कर्म अवश्यंभावी होता है। इस सम्बन्ध में महाभारत का एक प्रसंग देखें। द्रौपदी का स्वयंवर हो गया। भीम और अर्जुन की प्रसन्नता का पारावार न था। वे उसे लेकर माता कुन्ती के पास गये और कहा– ''माते! आज बड़ी उत्तम भिक्षा मिली है।'' कुन्ती उस समय पूजन कर

रही थी। उसने विचार किया, जब से मेरे बच्चे शकुनि–दुर्योधन के षड्यन्त्र में फँसे, लाक्षागृह में जलाये गये, वन-वन भटके, उन्हें कभी भरपेट अन्न नहीं मिला। कदाचित् आज उत्तम भोजन मिला है तो मैं क्यों हिस्सा बटाऊँ! बच्चे ही तृप्त हो लें। इसीलिए बिना उनकी ओर देखे ही वह बोल पड़ी– ''बेटा! उसे पाँचों भाई आपस में बराबर-बराबर बाँट लो।'' दोनों सन्न रह गये। उन्हें चुप पाकर कुन्ती ने अब उनकी ओर घूमकर देखा और पूछा– ''यह देवी कौन है?'' भीम ने कहा– ''यह है काम्पिल्य की राजकुमारी द्रौपदी। अनुज अर्जुन ने इन्हें स्वयंवर में जीता है।'' कुन्ती बोली– ''ओह! इन्हें तुमलोगों ने भिक्षा बताया। तुमलोगों ने अपनी माता से भी विनोद किया? अब दिखाओ बाँटकर।''

दोनों किंकर्त्तव्यविमूढ़ खड़े रह गये। इतने में वहाँ बड़े भ्राता युधिष्ठिर आ गये। दोनों बोले– ''भैया! कोई उपाय करो। माताजी ने तो ऐसा आदेश दे दिया है।'' युधिष्ठिर ने कहा– ''पिताजी का सुख तो हमें नहीं मिला। हमलोगों ने तो माताजी को ही देखा है और उनकी आज्ञा तो हमने कभी टाली ही नहीं। उनका आदेश टाल पाना मेरे वश का नहीं है। पूर्वजों की यही संस्कृति थी कि,

मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी।।

(रामचरितमानस, 1/76/3)

माता-पिता, गुरु और भगवान की वाणी पर विचार करो ही मत कि यह गलत है या सही है, उसे कर डालो।

अनुचित उचित बिचारु तजि जो पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमर पुर ऐन।।

(रामचरितमानस, 2/174)

अनुचित और उचित का विचार त्यागकर पिता के आदेश का पालन करनेवाले लोक में सुख-सुयश के भागी होते हैं और अन्त में परमधाम में निवास करते हैं। इसलिये भाई! माताजी की आज्ञा तो हम नहीं टाल सकते।''

इस बीच भगवान श्रीकृष्ण वहाँ पधारे। अर्जुन ने कहा– ''प्रभो! हमलोगों की रक्षा कीजिए। इस विषम परिस्थिति को टालिए।'' श्रीकृष्ण ने कहा– ''हूँऽ,

बुआ कुन्ती की बात तो टाली ही नहीं जा सकती।'' भीम ने कहा– ''अरे! आप भी वही कहते हैं।'' श्रीकृष्ण ने कहा– ''इसका उत्तर तो स्वयं द्रौपदी है। इसने पिछले जन्म में कठोर व्रत का पालन कर भगवान शिव की आराधना की। भोलेनाथ जब प्रसन्न हुए तो कहा, 'बेटी, वर माँगो।' इसने कहा– 'प्रभो! ऐसा पति दें जो पूर्ण धर्मात्मा हो।' शंकरजी ने कहा, 'तथास्तु।' पुनः इसने कहा, 'प्रभु! वह सबसे बलशाली हो।' भोलेनाथ ने कहा, 'एवमस्तु।' इसने पुनः कहा, 'भगवन्! वह सबसे बड़ा धनुर्धर हो।' भगवान शिव ने कहा, 'ऐसा ही होगा।' पुनः इसने कहा, 'सबसे सुन्दर हो।' भोलेनाथ बोले, 'चलो यह भी स्वीकार है।' इसने पुनः कहा, 'प्रभु! वह विद्धान हो।' शंकरजी ने उसे भी दिया और अन्तर्धान हो गये। बुआ कुन्ती का वचन तो द्रौपदी के कर्मों का परिणाम और शंकरजी का आशीर्वाद है।

इनमें पहला वरदान बड़े भ्राता युधिष्ठिर हैं सम्पूर्ण धर्मात्मा। दूसरे वरदान के रूप में हैं भीम; इस समय इनसे बलशाली कोई धरती पर नहीं है और न ही इनके जीवनकाल में कोई दूसरा होगा। तीसरा वरदान अर्जुन हैं, सबसे बड़े धनुर्धर। चौथे वरदान के रूप में हैं नकुल, सौन्दर्यसम्पन्न; और पाँचवें सहदेव हैं, विद्वान और विनयी। वर माँगते समय द्रौपदी को विचार करना चाहिये था कि जो मैं माँग रही हूँ किसी एक व्यक्ति में संभव है या नहीं! इसने बिना विचारे इतना कुछ माँग लिया। ये सभी गुण किसी एक व्यक्ति में हो भी नहीं सकते। द्रौपदी! कर्मों का बोझ तो ढोना ही पड़ता है,

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतकर्म शुभाशुभम्।

कर्म शुभ हों अथवा अशुभ, उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है। हाँ, यदि तुम शिव के वरदान को निष्फल कर सको तो प्रयत्न करके देख लो।'' द्रौपदी ने कर्मों का फल स्वीकार कर लिया।

इसी प्रकार सुकरात यूनान के अच्छे सन्त हुए। एक बार वह अपने शिष्यों के बीच बैठे थे। किसी तत्त्व-चिन्तन की वार्ता चल रही थी। इतने में एक ज्योतिषाचार्य वहाँ पहुँच गये। उन्होंने कहा– ''सम्मानित श्रोतागण! यह महात्मा, जो उच्च आसन पर विराजमान हैं, आप चाहें तो मैं इनकी भाग्यरेखा

बता सकता हूँ।'' गुरुजी की भाग्यरेखा जानने की लालसा सभी को थी। सबने कहा– ''अवश्य बतायें।''

ज्योतिषाचार्य ने कहा– ''आप सब इनके खड़े-खड़े बाल देख रहे हैं, ये आसुरी प्रवृत्ति के पुरुष के लक्षण हैं। यह पुरुष आसुरी प्रवृत्ति का है। इनके बड़े और चौड़े दाँत बता रहे हैं कि यह किसी को चबा सकते हैं। इसके पाँव की बनावट कह रही है कि यह कुमार्ग पर जायेगा। इनके हाथों की बनावट, इसके अंगूठे किसी का गला दबा सकते हैं। इनकी गोल-गोल बाहर निकली हुई आँखें निशाचरी आँखें हैं। इनसे कुदृष्टि ही पड़ेगी।'' सभा बौखला उठी किन्तु सुकरात उठे, उसे अपना अंगवस्त्र उढ़ाया, सम्मानित कर कहा– ''हमारी सभा में आने का आपने कष्ट किया, हम कृतार्थ हुए। भविष्य में भी आप इसी प्रकार दर्शन देने की कृपा करते रहें।'' उन्हें ससम्मान विदा कर दिया।

भक्त लोग बिगड़ पड़े– ''गुरुजी! वह इतना बड़ा धूर्त! आपने उसे सम्मानित क्यों किया? आप ही तो एक ऐसे महात्मा हैं जिनके चरणों में बैठकर हमलोगों को जीवन में शान्ति मिली है।'' सुकरात बोले– ''नहीं भाई! वह धूर्त नहीं था। वह ठीक ही कह रहा था। वह जो कुछ कह रहा था, वह सब दुर्गुण मुझमें थे, हैं भी! वह बेचारा जरा-सी ज्योतिष भूल गया कि अनुरागपूरित हृदय से, एक परमात्मा के प्रति समर्पण से और सतत संयमपूर्वक अभ्यास करने से कुसंस्कार कट जाते हैं। इतना ही बताना वह भूल गया था। और तो ठीक ही कह रहा था। यह दोष मानव के पास होते ही हैं। यदि आपमें कमी न होती तो आप यहाँ आये ही किसलिये हैं? समर्पण, चिन्तन और संयम ज्यों-ज्यों दृढ़ होते जायेंगे, विकार कटते जायेंगे, ईश्वरीय आभा प्रस्फुटित होती जायेगी। संस्कार कटते हैं–

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के।।

(रामचरितमानस, 1/31/9)

ललाट पर लिखे हुए कठिनाई से मिटनेवाले बुरे लेख भी मिट जायेंगे। कर्म में घोर नरक और यातना लिखी है तो कट जायेगी। उसका केवल एक उपचार है– मंत्र का जप! यह प्रश्न अलग है कि यह दो-ढाई अक्षर का नाम

जपते-जपते कब किस प्रकार मंत्र बन जाता है जिससे संस्कार कटते हैं किन्तु कटते अवश्य हैं। माता पार्वती के जीवन में ऐसा ही हुआ।

हिमाचल नरेश का राजघराना! उन्हीं की कन्या थी पार्वती। एक बार उनके यहाँ देवर्षि नारदजी पधारे। माता मैना ने देवर्षि के चरणों में कन्या से प्रणाम कराया। राजा बोले– ''भगवन्! इस कन्या की कुण्डली तो जरा देखिए।'' नारदजी बड़े विनोदी थे। किसी बात को घुमा-फिराकर कहे बिना उनको चैन नहीं पड़ता था। जहाँ वह पहुँच जायँ और झगड़ा न हो तो नारद का जाना ही व्यर्थ गया। वह समझ गये कि यह कन्या तो भोलेनाथ की अर्द्धांगिनी है, फिर भी स्पष्ट न कहकर वे बोले– ''ओह! कन्या है तो सुलक्षणा। यह सदैव अपने पति को प्रिय होगी। इसका सम्मान होगा। इससे आप सबके कीर्ति की अभिवृद्धि होगी किन्तु इसकी सौभाग्य रेखा में दो-चार अवगुण दिखायी दे रहे हैं।'' और जब अवगुण गिनाने लगे तो दसियों अवगुण बता डाला–

अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना॥

(रामचरितमानस, 1/66/8)

गुणों से रहित, मानहीन, माँ-बाप का पता नहीं, गृहस्थी के प्रति उदासीन, लापरवाह और,

जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल वेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥

(रामचरितमानस, 1/66/8)

जोगी, जटाधारी, इच्छारहित, नंग-धड़ंग और अमंगल वेशभूषावाला स्वामी इसे मिलेगा। इसके हाथ में ऐसी रेखा पड़ी है। माता मैना ऐसा सुनकर रोने लगी, सखियाँ रोने लगीं, हिमवान के नेत्र भर आये। धैर्य धारण कर उन्होंने देवर्षि से उपाय पूछा। नारदजी ने कहा– ''हाँ, एक उपाय है। भगवान शिव इस दुर्भाग्य का शमन कर सकते हैं। उनमें भी लगभग यही गुण मिलते हैं। महादेवजी की आराधना कठिन है किन्तु तप करने से वह अत्यन्त शीघ्र सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसलिए,

जौं तपु करै कुमारी तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥

(रामचरितमानस, 1/69/5)

तुम्हारी कन्या यदि तप करती है तो त्रिपुरारी शिव भावी को मिटा देंगे।'' पार्वती लग गयीं चिंतन में। भावी मिट गयी, होनहार मिट गया। यह भावी कौन मिटायेगा? '**भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी**'– सत-रज-तम त्रिगुणमयी प्रकृति है। इन तीनों गुणों से ऊपर जो त्रिगुणातीत स्थिति में है, ऐसा शिव-स्वरूप। शिवतत्त्वनिष्ठ स्थिति सद्गुरु की होती है और यही भगवान का भी सम्बोधन है। ऐसी ही स्थितिवाले महापुरुष मिल जायँ तो भावी, होनी, कर्म की रेखा भी मिट जाती है। यही कबीर कहते हैं कि सिद्ध वह है, अतीत वह है जो करम की रेखा मिटा दे। करम, प्रारब्ध, भाग्य की रेखा मिटती है चिन्तन से, सद्गुरु के शरण-सान्निध्य से, संयम से, अभ्यास से। जो कर्म की रेखा मिटा चुके होते हैं, उन महापुरुष की रहनी क्या होती है?

तिरगुन जटा बाँधि न्यारे करि पाँचों पकड़ि भगावै।

त्रिगुणमयी प्रकृति है। ब्रह्मलोक, देवलोक, मृत्युलोक इत्यादि सम्पूर्ण सृष्टि तीन गुणों के अन्दर एक गूँथा हुआ जाल जैसा है इसलिए इसे जटा की संज्ञा दी। इन तीनों गुणों की जटा को बाँध दें, **'न्यारे करि'** अलग कर दें और '**पाँचों पकड़ भगावै**'। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इन पाँचों का विषय है– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। आँखें रूप देखती हैं, कान शब्द सुनते हैं, रसना रसास्वादन करती है.....इस तरह पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की पाँच तन्मात्राएँ, पाँच कार्य हैं। आँखों ने कभी कुछ देख रखा था। जहाँ वह याद आया, सुरत तत्काल वहाँ पहुँच जायेगी। शरीर यहाँ बैठा है लेकिन मन इन ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से दूर भागता ही रहता है। इसलिए इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को '**पकड़ भगावै**'– इनका दमन करें, अपने पास रखें। इन्द्रियाँ बाहर जो रूप देखती हैं, हृदय में स्वरूप देखने लगें; वे बाहर जो शब्द सुनती थीं, प्रभु की पावन वाणी सुनने लगें तो ये सिमट जाती हैं फिर भी कोई साधु नहीं है। साधु वह तब है जब भगवान कह दें कि तू साधु है।

शब्दातीत की सनद लखे तब तन पर खाक रमावै।

शब्द के लिए सन्त कबीर कहते हैं–

शब्द हमारा आदि का सुनि मत जाओ सरक।
जो चाहो निज तत्व को शब्दहि लेओ परख॥

'शब्द हमारा आदि का'– आदि अनादि तत्त्व है परमात्मा! ये शब्द उन परमात्मा से प्रसारित हैं। परमात्मा से कुछ शब्द मिला, भगवान ने कुछ आदेश दिया **'सुनि मत जाओ सरक'**– उसे सुनकर कहीं खिसक मत जाना, अवहेलना मत करना, अनसुनी मत करना। **'जो चाहो निज तत्व को'**– यदि तुम अपने तत्त्व, अपने निज स्वरूप को चाहते हो तो शब्द को परख लो।

पूज्य गुरु महाराज जी कहा करते थे– हो! भगवान ने आगरा में हमको पतित होने से बचा लिया, देहरादून में यह कहा, उज्जैन में भगवान ने हमको सर्टिफिकेट दिया। कुछ दिन तो हम इस वार्ता को सुनते रहे, अन्ततः हमने पूछा– ''महाराजजी! क्या भगवान बातें करते हैं?'' वह बोले– ''हाँ हो! भगवान ऐसे ही बतियावा करत हैं जैसे हम-तुम बैठ के बतियाईं, घण्टों बतियाईं और क्रम न टूटै।'' यह सुनकर हम किञ्चित् उदास हो गये कि भजन तो जो बताया जायेगा, वही करने आये हैं, कर लेंगे किन्तु बात करने के लिए भगवान को कहाँ से पायें? लगभग पन्द्रह-बीस मिनट पश्चात् गुरु महाराज बोले– ''काहे घबड़ात है, तोहूँ से बतिअइहैं।''

आश्वासन मिल तो गया लेकिन भूखा तो तभी सन्तुष्ट होता है जब पाव-आध सेर पेट में जाय। लगभग पौने तीन माह व्यतीत हुए होंगे कि एड़ी से चोटी तक मेरा पूरा अंग फड़कने लगा– तड़–तड़-तड़-तड़ – आधा-आधा इञ्च पर! हमने सोचा, हमें कोई बीमारी हो गयी। हमने कहा– ''गुरु महाराज! मेरे पाँव के तलवे से लेकर शिर के शीर्षस्थ भाग तक आधा-आधा इञ्च पर सम्पूर्ण शरीर कभी यहाँ कभी वहाँ फड़क रहा है और उसके अनुरूप कुछ दृश्य भी आ रहे हैं, यह कहीं कोई बीमारी तो नहीं है।'' गुरु महाराज बोले– ''बस बेटा! राम-रावण युद्ध शुरू हो गया। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई आरम्भ हो गयी। अब रावण मारा जायेगा, रामजी का राज्याभिषेक होगा, तभी छुट्टी है। बीच में कहीं विराम नहीं है। बेटा! भजन जागृत हो गया। अब भगवान तुम्हें

बताने लगे, कहने-सुनने लगे हैं।'' भगवान कैसे बात करते हैं?– वह विधि गुरु महाराज बताने लगे कि जैसी हमारी अवस्था है, उसी अवस्था से ही प्रभु बतायेंगे किन्तु स्तर उठते-उठते तीनों गुण बँध गये, त्रिगुणमयी प्रकृति अलग हो जाती है, मन में सात्विकी-राजसी-तामसी तरंगें शान्त हो जाती हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को पकड़कर अन्तर्मुखी कर दिया तो जिन प्रभु से शब्द मिल रहे थे, वही कह देंगे कि तुम अतीत हुए। **'शब्दातीत की सनद लखै'**– अपौरुषेय वाणी से यह सनद मिल जाय कि तुम अतीत हुए, ऐसा महापुरुष **'तन पर खाक रमावै'**। संसार के संस्कार मिट गये, अन्तिम संस्कार भी मिट गया। अब जो कुछ है खाक है, श्मशान है। संसार के संस्कार शान्त हुए तो ईश्वरीय विभूति उतर आती है। वही अतीत होता है।

पूज्य गुरु महाराज कहते थे– ''पूरा संसार तुम्हें साधु कहे, तुम कुछ भी नहीं पाओगे, रोने को आँसू नहीं मिलेगा। भगवान तुम्हें साधु कह दें, आत्मा तुम्हें साधु कह दे तो तुम साधु हो, दुनिया कहे चाहे कभी न कहे।'' जब तक वह अपौरुषेय वाणी, परमात्मा के श्रीमुख से संचारित वाणी यह न कह दे कि तुम मुझमें समाहित हो, मैं तुझमें समाहित हूँ तब तक कुछ भी नहीं है। जहाँ उन्होंने कहा कि तुम अतीत हुए, अब तन में कोई संस्कार नहीं है, जो कुछ है खाक है, अब हृदय श्मशान है। इसी श्मशान में भगवान शिव निवास करते हैं। प्रकृति की सीमाओं से अतीत शिवतत्त्व में स्थित महापुरुष सद्‌गुरु होते हैं। प्रश्न उठता है– इन्द्रियाँ सिमट कैसे जायेंगी? भगवान ही प्रसन्न होकर तुम्हें क्यों कह देंगे कि जाओ बेटा, पूर्ण हुए। साधना किस प्रकार है?

स्वाँसा सुरवा सत्य की वेदी ब्रह्म की अगन जलावै।

श्वास ही स्रुवा है। स्रुवा वेदी बनाकर किये जानेवाले वाह्य यज्ञ का एक पात्र होता है, लकड़ी की कलछी जैसा, जिससे घी उठाकर अग्नि में हवन करते हैं। इस आन्तरिक यज्ञ में स्रुवा श्वास है। इसी के माध्यम से नाम जप की आहुति सत्य की वेदी में डाली जाती है।

सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार।

(परमहंसजी की बारहमासी)

परम सत्य, ध्रुवसत्य तो केवल एक आत्मा है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥

(रामचरितमानस, 1/22/6)

जो कण-कण में व्याप्त है, एक है, ब्रह्म है वही परम सत्य है, आनन्द की राशि है। आहुति उसी परमात्मा को समर्पित करना है। आज हमारे श्वास की आहुति लोभ-मोह-राग-द्वेष इत्यादि में जाती है। यह सब ओर से सिमटकर श्वास की स्रुवा से सत्य एक परमात्मा के लिए अर्पित होना चाहिए।

स्वास स्वास पर राम कहु, वृथा स्वास जनि खोय।
ना जाने यहि स्वास का, आवन होय न होय॥

हर श्वास में नाम कहें, एक भी श्वास व्यर्थ न जाने पाये। पता नहीं अगले ही पल इस श्वास का आना हो या न हो। भजन का उतार-चढ़ाव श्वास पर होता है। श्वास का चिन्तन जब जागृत हो जाता है, सत्य परमात्मा को ही अर्पित होता है। परमात्मा के प्रति समर्पण के साथ नाम के चिन्तन का अभ्यास इतना उन्नत हो गया कि '**ब्रह्म की अगिनि जलावै**'। ब्रह्माग्नि, योगाग्नि, ज्ञानाग्नि– सभी पर्यायवाची हैं। गीता में इन अग्नियों का चित्रण है। योग कहते हैं परमात्मा से मिलन को! जहाँ मिले तहाँ उसकी अनुभूति होगी ज्ञानाग्नि; और जहाँ उसकी अनुभूति हुई, उसमें समाहित हो गये वह है ब्रह्माग्नि। तीनों स्थितियों में मात्र एक-एक पल का अंतर है, तीनों एक ही साथ घटित होते हैं।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! इस कर्म को किये बिना सृष्टि में न कोई मुझे प्राप्त कर सका है और न भविष्य में ही कोई कर सकेगा; किन्तु,

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ *(गीता, 4/19)*

जिस पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया इतनी उन्नत हो गयी कि '**कामसंकल्पवर्जिताः**'– काम अर्थात् कामना, इच्छा– इच्छाओं

से ऊपर उठ गयी। संकल्प का रुक जाना मन की निरोधावस्था है। संकल्प का ही दूसरा नाम मन है। जहाँ कर्म कामना और संकल्प से ऊपर उठा तो **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं'**– जिसको वह जानना चाहता था, जिसके लिए यत्न करता था, उसकी अनुभूति मिल जाती है। जहाँ उसकी जानकारी मिली, **'दग्धकर्माणं'**– कर्म सदा के लिए जल जाते हैं। जो पूर्व संस्कारों की रील थी और जो चिन्तन कर्म अनिवार्य था, दोनों जल गये। **'तमाहुः पण्डितं बुधाः'**– इस स्थितिवालों को ही बोधस्वरूप महापुरुषों ने पण्डित कहकर सम्बोधित किया है। जानकारी के साथ ही ब्रह्म में प्रवेश, ब्रह्माग्नि में हवन करना है। यही है **'ब्रह्म की अगिनि जलावै।'** जहाँ ब्रह्म की अग्नि जली तो,

कर्म काट समुदय कर हीना, विजया होम करावै।

साधक की चाल-ढाल से जो संस्कार बनते हैं, संस्कारों के समूहों का उदय होता रहता है, महापुरुष उससे भी ऊपर उठ जाता है। ऐसी स्थिति में योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। अब संस्कारों का निर्माण होता ही नहीं। इसी के लिये संत कबीर कहते हैं–

जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कछु करउँ सो पूजा।
भीतर बाहर एकहिं देखा, भाव मिटा सब दूजा।।

जो कर डालो वह पूजा; जहाँ चले जाओ परिक्रमा ही है। योगी की इस स्थिति के पश्चात्, ज्ञानाग्नि-ब्रह्माग्नि में हवन के पश्चात् योगी का हर कार्य दूसरों के कल्याण के लिए होता है। उनकी वाणी देशज या क्षेत्रीय ही क्यों न हो, वेदवाणी है, देववाणी है। वे चाहे कुछ भी करें, उनकी प्रत्येक क्रिया मंगलमयी है। लोकहित के लिये उनका जीवन है, स्वयं के लिये उसका कोई उपयोग ही नहीं रहा। अब उनके कार्यों से संस्कार-समूहों का उदय नहीं होता तभी वास्तविक विजया होम होता है। अब शाश्वत विजय हो गयी।

संन्यास धारण करते समय समाज में विजया होम करने का विधान है किन्तु कबीर कहते हैं– वेष धारण का नाम संन्यास नहीं है। संन्यासी विजया होम करता है किन्तु वास्तविक विजय तभी है जब संस्कार निर्मूल हो जायँ,

ब्रह्म में स्थिति मिल जाय, इन्द्रियों पर सहज विजय की स्थिति आ जाय। ऐसे योगी की रहनी बताते हैं–

आसन मारि गगन पर बैठे, अनहद नाद बजावै।

गगन अर्थात् आकाश! आकाश कहते हैं पोल को। आकाश कहते हैं शून्य को। मन के अन्तराल में भले-बुरे संकल्पों की भीड़ लगी है। अभ्यास करते-करते, श्वास की स्रुवा से सत्य की वेदी में आहुति देते-देते न हृदय में कोई संकल्प उठे और न वाह्य वायुमण्डल के संकल्प मन में प्रवेश कर पायें– ऐसे योगी की सुरत (मन की दृष्टि) शून्य में टिक जाती है। मन चिदाकाश के शून्य में ठहर गया। अब भले-बुरे चिन्तन नहीं आते। आखिर उसके चिन्तन में कुछ है! कबीर कहते हैं– वह '**अनहद नाद बजावै**'।

हद कहते हैं सीमा को। अनहद कहते हैं असीम को। असीम, अनन्त, व्यापक– ये परमात्मा के विशेषण हैं। उस समय वह हद से परे जो परमात्मा है, उसकी धुन मात्र शेष है। केवल परमात्मा के नाम में ही सुरत प्रवाहित हो गयी, उसी क्षण वह परमात्मा विदित हो जाता है।

आतम तत्व तुम्बड़ी दरसै, तब संन्यास कहावै।

'**आतम तत्व**' अर्थात् जिसकी हमें चाह थी, वह परमात्म-तत्व '**तुम्बड़ी दरसै**'। महापुरुषों ने इस शरीर की तुलना कच्चे घड़े से की है–

यह तन काचा कुम्भ है लिये फिरे तू साथ।
ढबका लागा फूट गया, कछू न आवै हाथ।।

शरीर एक कच्चा घड़ा है जिसे लेकर तू घूम रहा है। थोड़ा-सा धक्का लगते ही यह घड़ा फूट जाता है, दुबारा वह नहीं जुड़ता, कुछ भी हाथ नहीं लगता। कहीं कबीर इस शरीर को ओस की बूँद की तरह मानते हैं। उषाकाल में फसल की नोंक पर रखी ओस की बूँद मोती की तरह चमकती है किन्तु सूरज की पहली किरण पड़ते ही जमीन पर गिर पड़ती है, थोड़ी ही देर में भाप बनकर उड़ जाती है, शरीर इतना क्षणभंगुर है। इस शरीर को सन्त कबीर ने तुमड़ी की संज्ञा भी दी है–

तितलौकी की बनी तुमड़िया, सब तीरथ फिरि आई।
सन्त पारखी चाखन लागे, तउ न गई करुआई।
नाथ मोरी बिगड़ी कौन बनाई।।

तितलौकी की ही तरह इस शरीर में भी राग-द्वेष, इच्छा-वासना की अनन्त कड़वाहट भरी पड़ी है। यह कड़वाहट ही लोगों को दुःख देती है। हर मनुष्य इससे परेशान है। कड़वाहट छुड़ाने के लिए ही वह तीर्थों में जाता है। कोई ब्रदीनाथ, रामेश्वरम्; कोई मक्का-मदीना तो कोई येरूशलम– जो जिसका तीर्थ हो, जिसकी श्रद्धा जहाँ टिक गयी हो। किन्तु पारखी सन्तों ने देखा '**तउ न गई करुआई**'– तब भी इसकी कड़वाहट ज्यों-की-त्यों है। जब तक साधना जागृत न हो, उस साधना में श्वास की स्रुवा से सुमिरण न हो, तब तक संस्कारों की रील में प्रवाहित कड़वाहट दूर नहीं होती, वे संस्कार कटते नहीं। इसलिए आसन आकाश में, सुरत शान्त शून्य में प्रवाहित, केवल एक परमात्मा की धुन अनहद अनवरत प्रवाहित होने पर '**आतम तत्व तुम्बड़ी दरसै**'– कड़वाहट समाप्त होते ही आत्म-तत्त्व, परमात्म-तत्त्व इसी घट के अन्दर, इसी तुमड़ीरूपी शरीर में दिखायी पड़ेगा। और जहाँ स्वरूप दिखायी पड़ा–

तब संन्यास कहावै।

परमात्मा में स्थिति का नाम संन्यास है। केवल वेश धारण कर लेने से संन्यास नहीं आता। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं–

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। *(गीता, 6/1)*

अर्जुन! फल के आश्रय से रहित होकर जो '**कार्यं कर्म**' करने योग्य प्रक्रिया विशेष (नियत कर्म) को करता है, वही संन्यासी होता है और वही योगी होता है। केवल अग्नि और क्रिया को त्यागनेवाला न संन्यासी है और न ही योगी है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।। *(गीता, 6/2)*

अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं उसी को तू योग जान। किन्तु संकल्पों का त्याग किये बिना कोई भी पुरुष न संन्यासी होता है और न योगी ही होता है। कोई कह दे कि हम संकल्प नहीं करते तो क्या हो गया संकल्प का त्याग? नहीं, कहने से क्या होता है! संकल्प तो एक लहर है। यह अन्तःकरण में तूफान की तरह चलता है। संकल्प तो इतने भयंकर होते हैं कि लोगों को कभी-कभी नींद ही नहीं आती। किसी के कहने मात्र से संकल्प क्या पिण्ड छोड़ते हैं? संकल्प कैसे नष्ट हों? इस पर योगेश्वर कहते हैं–

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारुढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।। *(गीता, 6/3)*

अर्जुन! योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले पुरुष को चाहिए कि कर्म करे। कर्म में भी नियत कर्म। नियत कर्म है आराधना। इसलिए कर्म का आशय चिन्तन है। कर्म करते-करते योग में आरूढ़ता आ जाय तो उस आरूढ़ता में **'शमः कारणमुच्यते'**– मन सम और स्थिर हो जाता है, वहीं सर्वसंकल्पों का त्याग है। बिना चिन्तन के संकल्प दूर नहीं होंगे। अन्त में भगवान कहते हैं–

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।। *(गीता, 6/4)*

योगारूढ़ता के पश्चात् जिस काल में वह न तो इन्द्रियों के भोगों में और न चिन्तन कर्म में ही आसक्त होता है, वहाँ सर्वसंकल्पों का त्याग है, उसी का नाम संन्यास है। संकल्प जहाँ शान्त हुए, विपरीत संकल्प नहीं रह गये तो फिर आत्मतत्त्व ही शेष बचता है। यही कबीर का भी कहना है कि **'आतम तत्व तुम्बड़ी दरसै'**– हृदय में वह आत्मतत्त्व विदित हो गया, **'तब संन्यास कहावै'**– तभी संन्यास की स्थिति आती है। पहले आसन शून्य में टिका, परमात्मा की धुन मात्र शेष रही, परमतत्त्व हृदय में विदित हो गया, उस अवस्था का नाम संन्यास है। संन्यास के बारे में जो निर्णय योगेश्वर श्रीकृष्ण का है, वही सन्त कबीर का भी है।

भगवत्पथ एक ऐसा पथ है जिस पर चलने के लिए आप पढ़े-लिखे हैं तब भी ठीक है, और न पढ़े-लिखे हों तब भी कोई क्षति नहीं; क्योंकि इस

पढ़ाई का साधन-भजन में उपयोग ही नहीं है। भगवत्पथ की पढ़ाई भगवान स्वयं पढ़ाते हैं। सन्त कबीर इस पद की अग्रेतर पंक्ति में कहते हैं कि यह साधना कहाँ मिलेगी? भजन जागृत कहाँ से होगा?

सदगुरु कुंजी देइ महल की मुक्ति किवाड़ खुलावै।

सद्‌गुरु ने महल की कुंजी प्रदान कर दी। किस महल की? स्वयं तो वृक्ष के नीचे घास-फूस की टपरी में बैठे हैं, उन्होंने कौन-से महल की कुंजी प्रदान कर दी? वास्तव में शरीर एक मकान है–

या घट भीतर वन अरु बस्ती, या में झाड़ पहाड़ा।
या घट भीतर आय लेते हैं, राम कृष्ण अवतारा।
कहत कबीर सुनो भाई सन्तो! अलख पुरुष इक न्यारा।
सन्तो! घट में ही उजियारा।।

घट के अन्दर काम की खिड़की खुली है, लोभ-मोह-राग-द्वेष सबकी खिड़की है। एक मुक्ति की भी खिड़की है जिसे सब नहीं खोल पाते। महल में सब कुछ भरा हुआ है। **'मुक्ति किवाड़ खुलावै'**– जिससे मोक्ष प्राप्त होता है, सद्‌गुरु ने वह दरवाजा खोल दिया अर्थात् भजन जागृत कर दिया। आवागमन से मुक्ति मिल जाय, कैवल्य पद मिल जाय, वह किवाड़ खुलवा दिया।

भजन की जागृति जब भी होती है, सद्‌गुरु से ही होती है। पूज्य गुरु महाराजजी कहा करते थे– सब बात सब कोई जानत हैं, दो-दो पैसे में वेदान्त बिकत है *(उन दिनों गीता प्रेस गोरखपुर से गीता दो पैसे में मिलती थी)*, लोग पढ़त हैं और लिखत भी जात हैं। पता नहीं का पढ़त हैं, का लिखत हैं किन्तु भजन ही एक ऐसी वस्तु है जो न तो लिखने में आती है और न ही वाणी से कहने में आती है। वह तो किसी अनुभवी सद्‌गुरु द्वारा किसी-किसी अधिकारी के हृदय में जागृत हो जाया करती है।

यही तथ्य रामचरितमानस के परिशीलन से मिलता है। भगवान राम जब पंचवटी में विराजमान थे, अनुज लक्ष्मण ने उनके समक्ष छलहीन शब्दों में साधनापरक प्रश्न रखे कि प्रभो! विद्या क्या होती है? अविद्या क्या होती

है? माया क्या है? ब्रह्म क्या है? ईश्वर किसे कहते हैं और सुख का स्रोत क्या है? क्रम-क्रम से सबका उत्तर देते हुए भगवान ने कहा– **'भगति तात अनुपम सुख मूला।'**– हे लक्ष्मण! **'अनुपम सुख'** जिसकी कोई तुलना नहीं है, ऐसे सहज सुख की मूल है भक्ति। लक्ष्मण ने कहा– प्रभु! उसे प्रदान करें। भगवान ने कहा– उसे सीधा तो मैं भी नहीं दे सकता। **'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला।'** *(रामचरितमानस, 3/15/4)*– वह मिलेगी तभी जब सन्त अनुकूल हों। सन्त मिलना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें अनुकूल भी करना चाहिए। इसीलिए भजन की जागृति न तो वाणी से, न लिखने-पढ़ने से आती है। वह तो अनुभवी सद्‌गुरु के द्वारा हृदय में जागृत हो जाया करती है।

ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन।।

(रामचरितमानस, 7/48/2)

ज्ञान प्राप्त करो, दया करो, इन्द्रियों का दमन करो, मन का शमन करो, तीर्थों में अवगाहन करो– धर्म के ये साधन श्रुतियाँ कहती आ रही हैं, सत्पुरुष कहते आ रहे हैं।

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई।।

(रामचरितमानस, 7/119/18)

सभी साधनों का फल है– एक हरि की भक्ति! किन्तु वह भक्ति बिना सन्त के आज तक किसी ने पायी ही नहीं। यही कबीर भी कहते हैं कि सद्‌गुरु ने वह खिड़की खोल दी जिससे मोक्ष प्राप्त होता है, आवागमन से छुटकारा मिल जाता है।

परमहंस परपुरुषहिं चीन्है, तब परलोक सिधावै।
सिद्ध है सोइ अतीत कहावै।।

मुक्ति का दरवाजा खुला। अब उस मुक्ति-मार्ग पर चलते-चलते व्यक्ति परमहंस कब होता है? जब वह परपुरुष को पहचान ले–

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।।

(रामचरितमानस)

भगवान प्रकृति से परे हैं इसीलिए पर हैं, पुरुष हैं। पहले उस परपुरुष को पहचान लें **'तब परलोक सिधावै'**– पहले परम पुरुष की अनुभूति, तब परलोक में प्रवेश होता है; क्योंकि,

बिनु देखे वहि देस की बात कहै सो कूर।
आपहिं खारी खात है, बेचत फिरै कपूर॥

यदि किसी ने देखा नहीं और कहता है कि 'ब्रह्म ऐसा, माया ऐसी' वह व्यर्थ का बकवाद कर रहा है अर्थात् भजन अनिवार्य है। उसे करके ही परपुरुष की पहचान होती है। साधना के किस स्तर पर यह पहचान होती है?

अक्षर माहिं निरक्षर दरसे, सहज भाव मन लावै।

आदिशास्त्र गीता में है–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ *(गीता, 15/16)*

अर्जुन! संसार में पुरुष दो प्रकार का होता है– क्षर और अक्षर! कैसे पहचानें कि कौन क्षर पुरुष है, कौन अक्षर? तो **'क्षरः सर्वाणि भूतानि'**– भूत माने जीवित प्राणी, प्राणिमात्र का शरीर क्षर पुरुष है। ये क्षरणशील हैं, परिवर्तनशील हैं, अंजलि में जल की तरह हैं कि कितना भी कसकर अंजलि बांधे, पानी बूँद-बूँद रिसते-रिसते थोड़ी देर में समाप्त हो जाता है। शरीर क्षर पुरुष है। शरीर होने के कारण वासनाओं में जब तक जीवन है तब तक व्यक्ति क्षर पुरुष है और **'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'**– मनसहित इन्द्रियाँ जब कूटस्थ हो जाती हैं, अचल स्थिर ठहर जाती हैं फिर वही अक्षर पुरुष हो जाता है। उसका संसार में कभी विनाश नहीं होता। संसार में बस दो ही प्रकार के मनुष्य होते हैं। यदि कोई इन्द्रिय स्तर पर जी रहा है तो क्षर पुरुष और इन्द्रिय संयम की कसौटी पर है तो अक्षर पुरुष है। आप स्त्री हों चाहे पुरुष, शरीर तो एक वस्त्र है। यह आपके अन्तःकरण की योग्यता का चित्रण मात्र है। संसार में पुरुष की यह दो ही श्रेणियाँ हैं। पुरुष की सर्वोच्च श्रेणी, तीसरी श्रेणी संसार से परे है–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ *(गीता, 15/17)*

अर्जुन! उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, अनिर्वचनीय है, निरक्षर है, शब्दों से उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण के शब्दों में अन्य ही है जो यावन्मात्र जगत् को धारण करके स्थित है। परमात्मा, ईश्वर– ऐसा कहा भर जाता है; वैसे है अनिर्वचनीय, निरक्षर। '**अक्षर माहिं निरक्षर दरसे**'– मनसहित इन्द्रियाँ कूटस्थ हो गयीं, वह अक्षर पुरुष है। अब उसका विनाश नहीं होना है। पाना ही पाना है, देर चाहे जो लगे। इस अक्षर की अवस्था से जहाँ साधक आगे बढ़ा, निरक्षर दिखायी पड़ा तो '**अक्षर माहिं निरक्षर दरसे, सहज भाव मन लावै।**' सहज भाव से परमात्मा मन में समा गया, परिश्रम नहीं करना पड़ता। सहज का अर्थ होता है– '**विधि न बनाये हरि आप बनि आये।**'– जैसे ऐसा था ही, परमात्मा ही शेष बचा। अब भगवान मार्गदर्शन किसका करें?

शिव शक्ति जब एक भई तब कस न परम पद पावै।

शिव? प्रकृति की सीमाओं से अतीत, असीम तत्त्व, कल्याण तत्त्व शिव हैं। ज्योंही कोई भजन में प्रवृत्त होता है वह कल्याण तत्त्व वहीं से मार्गदर्शन शुरू कर देता है। वह है उस शिव की शक्ति जिसके माध्यम से वह साधक को जगाते, उठाते-बैठाते, भजन पढ़ाते, खतरों से अवगत कराते ले चलते हैं और बहुत ही संकट आया तो भक्त को बचाकर अलग खड़ा कर देते हैं। जिसके द्वारा भगवान योगक्षेम करते हैं वह है शिव की शक्ति। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ *(गीता, 9/22)*

अर्जुन! '**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां**'– अनन्य माने अन्य न, मुझे छोड़कर अन्य किसी देवी-देवता को न भजते हुए जो केवल मेरा सतत चिन्तन करता है, ऐसे समर्पित भक्त के योगक्षेम का भार मैं वहन करता हूँ। परमात्मा जिस

प्रशक्ति से भार वहन करते हैं, उसका नाम है शक्ति। किन्तु अक्षर अवस्था, कूटस्थ अवस्था से निरक्षर, अनिर्वचनीय की पकड़ आ गयी, परमात्मा सहज भाव से मन में समाहित हो गया, परमात्मा में स्थिति मिल गयी, अब आगे कुछ पाना शेष नहीं है तो शक्ति द्वारा किसको बतायें? ऐसी दशा में भगवान ही सिमटकर अपनी शक्ति को अपने में ही समाहित कर लेते हैं। भगवान बोलना-बताना बन्द कर देते हैं तो '**कस न परम पद पावै**'– अब उसे परम पद पाना ही पाना है। अन्त में कहते हैं, उस महापुरुष की रहनी कैसी है?,

मान बड़ाई एको न रखाई, दुविधा दूर भगावै।

उन महापुरुष के यहाँ मान, बड़ाई रंचमात्र भी नहीं टिकती। उनका सम्मान करें या अपमान, उनकी प्रशंसा करें कि आपकी कुटिया अच्छी है, आपका ज्ञान बहुत अच्छा है– उन पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। संसार की दी हुई उपाधियों का उनकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं रहता। क्षुद्र दुनिया के रहन-सहन की बड़ाई का उनकी दृष्टि में अस्तित्व ही नहीं है। यह तो श्रद्धालु वहाँ सेवा-सुमन प्रस्तुत कर रहे हैं। ऐसे महापुरुष हर आगन्तुक की दुविधा को दूर कर देते हैं कि भजन यह सही, वह मार्ग सत्य है। उस इष्ट को भजें या इनको? दुविधा, संशय दूर करना उनकी सहज अवस्था होती है।

कह कबीर एहि गति के योगी, बहुरि न भवजल आवै।
सिद्ध है सोई अतीत कहावै।

सन्त कबीर कहते हैं कि इस उन्नत अवस्थावाले योगी '**बहुरि न भव जल आवै**'– पुनः भव अर्थात् आवागमन के, भवसागर के जल में कभी नहीं आते। भव अर्थात् संसार के कई रूपों का चित्रण रामचरितमानस में है–

भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते।।

(रामचरितमानस, 7/13, छंद 10)

जो उन परम प्रभु के चरण-कमलों में प्रेम नहीं करते, वे अथाह भवसिंधु में डुबकियाँ लगाते रहते हैं। भगवान की कथा में अवगाहन करने से यही सिन्धु सरिता बनकर रह जाता है–

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी।।

(रामचरितमानस, 1/30/4)

प्रभुपर्यन्त दूरी तय करने की कथा, गुणानुवाद से अथाह भवसागर सरिता हो जाता है। कथा के आते ही प्रभु के चरित्र का चिन्तन करना होता है।

यह चरित जे गावहिं हरि पद पावहिं ते न परहिं भव कूपा।।

(रामचरितमानस, 1/191, छन्द 6)

चरित्र-चिंतन, मनन करनेवाले हरिपद प्राप्त कर लेते हैं, वे कभी भवकूप में नहीं गिरते। भवसमुद्र से भवसरिता और पुनः भवकूप में सिमट गया किन्तु भगवान का वरदहस्त मिल जाने पर,

गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई।।

(रामचरितमानस, 5/4/2)

भगवान की कृपा होते ही विष अमृत में बदल जाता है। माता मीरा और भक्त प्रह्लाद को विष ही तो दिया गया था। भवसिंधु उतना ही रह गया जितना गाय के खुर से बने गड्ढे में जल आता है। जितना आपके इन्द्रियों का आयतन है, उतना ही आपके लिये संसार है। मंत्र जप की परिपक्व अवस्था में,

नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं।।

(रामचरितमानस, 1/24/4)

नाम के प्रभाव से अथाह भवसिंधु भी सूख जाता है। इसलिए भजन की जहाँ तक परम्परा है, चाहे अंगूठा छाप महापुरुषों की वाणी हो या महायोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की वाणी हो, सद्‌गुरु की कृपा से जब भजन जागृत हो गया तो उनका आराध्य एक, साधना-पद्धति एक, रास्ते में मिलनेवाली सुविधायें एक, विघ्न एक, निवारण एक और अन्ततः परिणाम भी एक ही होता है।

।। ॐ श्री सद्‌गुरुदेव भगवान की जय ।।

पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो

पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुर किरपा करि अपनायो। पायोजी...
जनम जनम की पूँजी पाई जग में सबै खोवायो। पायोजी...
खरच न खूँटै चोर न लूटै दिन दिन बढ़त सवायो। पायोजी...
सत की नाव खेवटिया सतगुर भवसागर तर आयो। पायोजी...
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरषि हरषि जस गायो। पायोजी...

माता मीरा का यह भजन देखने में सरल है, सीधा है किन्तु इसमें भगवत्पथ का, उस पथ की साधना का, ईश्वर की अनुकम्पा का, गुरु की गरिमा इत्यादि सभी स्थितियों का, साधनात्मक रहस्यों का भरपूर चित्रण है। इस पद में नाम की महिमा का उद्घोष है। नाम से ही राम मिलते हैं। नाम साधन है और राम उपलब्धि। नाम के विभिन्न स्तरों की चर्चा गोस्वामी तुलसीदासजी इत्यादि संतों ने भी की है।

सीता की शोध में गये हुए हनुमान जब लंका से लौटकर आये, भगवान राम ने पूछा– हनुमान! यह बताओ, सीता वहाँ अपने प्राणों की रक्षा कैसे करती है? हनुमान ने कहा,

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट।।

(रामचरितमानस, 5/30)

अहर्निश नाम का पहरा लगा है। **'स्वाँस स्वाँस पर नाम कह, वृथा स्वाँस जनि खोय। ना जाने यहि स्वाँस का, आवन होय न होय।।'** कोई श्वास व्यर्थ न जाने पाये। जब इस प्रकार नाम का क्रम धारावाही हो जाता है तो नाम का पहरा लग गया। अब नाम प्रहरी बन गया। केवल प्रातः-सायं माला फेर लेने से ऐसा नहीं होता। इसके लिए अहर्निश लगने का विधान है। भजन

का दूसरा आलम्बन ध्यान है। सीताजी ने आपके चरणों के ध्यान की किवाड़ लगा रखी है। **'लोचन निज पद जंत्रित'**– दृष्टि अपने पद पर टिकी है। यदि लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर नहीं होगी तो कोई भी प्रलोभन आकर्षित कर सकता है। जीव को जो पाना है–अपना सहज स्वरूप, लौ सीधे वहाँ लगी है। ऐसा ताला लगा है तो **'जाहिं प्राण केहिं बाट'**– किस रास्ते से प्राण जायेंगे?

सामान्यतः प्राण का अर्थ श्वास, जीवनीशक्ति से होता है किन्तु अध्यात्म में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार– इस अन्तःकरण चतुष्टय को प्राण कहा जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने इसे गीता में स्पष्ट किया है–

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। ***(गीता, 4/27)***

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्म को और प्राण के कर्मों को आत्मसंयम की अग्नि में हवन करते हैं। इन्द्रियाँ ही कर्म नहीं करती, प्राण भी कर्म करते हैं। इन अन्तःकरणों में प्रकृति का हलन-चलन न आये– यह है प्राणों की रक्षा। यदि लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर नहीं है, कोई दैदीप्यमान चमकीली वस्तु सामने आयेगी तो जो प्राण सीधा चिन्तन में लगा था, भटक जायेगा, प्राण चले जायेंगे। प्राणों के व्यापार की रक्षा, संकल्प की रक्षा प्राणायाम है और श्वास को रोकना-छोड़ना, पूरक–कुम्भक–रेचक के रूप में जो प्राणायाम प्रचलित है, यह तो आरम्भिक स्तर है। सीताजी के चतुर्दिक नाम का पहरा था। नाम में तो यह क्षमता है कि,

नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं।।

(रामचरितमानस, 1/24/4)

नाम के प्रभाव से अथाह भवसागर सूख जाता है। जहाँ डूबने की संभावना थी, वहाँ जमीन हो गयी तो कहाँ डूबेंगे? प्रकृति परमतत्त्व परमात्मा में परिवर्तित हो जाती है। सूखने का तात्पर्य है कि प्रकृति विलुप्त हो गयी। संत कबीर के शब्दों में– **'बिनु गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नरक जात धौं काहे।'**– गोपाल से रहित कोई स्थान है ही नहीं तो कोई नरक में कहाँ जायेगा? **'सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।।'**

(रामचरितमानस, 2/130/7)- न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रह जाता है जिसकी हम कामना करें और न नरक नरक के रूप में रह जाता है जिससे हम भयभीत हों। जहाँ भी दृष्टि पड़ी, आराध्यदेव के स्वरूप को खड़ा पाया। जहाँ संसार-समुद्र लहरें मार रहा था, वहाँ परमात्मा का आलोक छा गया। समुद्र सूख गया। अथाह भवसिंधु सूख जाता है। वह सूख गया तो परमात्मा ही शेष बच रहता है। अतः नाम निरन्तर जपना चाहिए। नाम-जप में एक स्तर ऐसा भी है कि केवल एक बार नाम जपना होता है और जप सम्पन्न हो जाता है।

जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहि नर भवसिंधु अपारा॥

(रामचरितमानस, 2/100/3)

जिसके नाम को एक बार जप लिया तो अपार भवसिंधु से नर तर जाते हैं। इतना ही नहीं,

बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥

(रामचरितमानस, 2/216/4)

एक बार 'राम', इतना ही जिसने कह लिया वह स्वयं भवसिंधु से न केवल तर जाता है अपितु अन्य को भी तारनेवाला हो जाता है, सद्गुरु हो जाता है। क्या इतना सस्ता उपाय है? आप अयोध्या, काशी, मथुरा में देखें, एक से एक ऐसी विभूतियाँ नाम-जप में संलग्न हैं जिनकी उँगलियों की रगड़ से काठ की गुरिया घिस गई, घिसी हुई चार-छः मालायें खूँटी में टँग गयीं। वे न स्वयं ही तरे और न उनमें तारने की शक्ति ही आयी तो इस एक नाम का क्या रहस्य है?

वास्तव में आप एक ही नाम जपते हैं किन्तु जब हम-आप नाम जपने बैठते हैं तो मन बहुत बातें करने लगता है। खाली बैठे हैं तो मन में बहुत उथल-पुथल नहीं रहती किन्तु भजन में बैठते ही मन घर-गृहस्थी की तमाम योजनायें बनाने लग जाता है। प्रकृति के अनन्त चिन्तन आते रहते हैं। भजन के बीच में लहर मारते एक नाम के स्थान पर अनेक चिन्तन आते रहते हैं। यह लहर शान्त हो जाय, संयम इतना उन्नत हो जाय कि एक नाम के अतिरिक्त अन्य चिन्तन समाप्त हो जायँ। इस एक नाम की स्थिति पर जिस क्षण संयम

सधा, भजन पूरा हो गया। यह मन की निरोधावस्था है। स्वाँस तैलधारावत् खड़ी हो जाती है, प्रकृति के सम्पूर्ण संकल्प शान्त हो जाने पर जिस पल एक नाम की स्थिति आयी, सुरत टिकी, दूसरे ही पल जो शेष बचता है वह परमात्मा है। उस पल संसार समाप्त हो जाता है। यह अनेक नाम पिण्ड छोड़ें तब ही एक नाम की स्थिति संभव है। यह संयम की परिपक्व अवस्था का चित्रण है, मन की निरोधावस्था है।

जिस क्षण एक नाम की स्थिति आती है, तत्क्षण साधक स्वयं तर जाता है, प्रकृति से सम्बन्ध टूट चुका होता है, परमात्मा से सम्बन्ध उसी पल जुड़ जाता है। भगवान जो हैं, जिन विभूतियों से युक्त हैं, आपमें दृष्टि बनकर संचारित हो जायँगे, सामने स्वयं खड़े हो जायँगे, आप नहीं समझेंगे तो समझा लेंगे; भजन अनिवार्य है। एक नाम की स्थिति तक पहुँचने के लिए हमें उतना ही चिन्तन करना होता है और सारा उपक्रम इस मन के अन्दर नाम-जप में जो अवरोध आते हैं, अनन्त नामों का जो तूफान-सा खड़ा है, संकल्पों का जो वायुमण्डल बना हुआ है, इसका अंत करने के लिए ही होता है। मन की गति के निरोध के लिए ही चिंतन किया जाता है। इसलिए,

यह मसजिद है वह बुतखाना। मकसद तो है मन को समझाना।।
चाहे यह मानो चाहे वह मानो।।

एक परमात्मा पर श्रद्धा स्थिर कर जो उन परमात्मा को पुकारे, ऐसे दो-ढाई अक्षर के किसी नाम का जप करें। एक नाम की स्थिति तक हमारी साधना कैसे पहुँचे? इसके लिए होती है भजन की जागृति। इस जागृति के लिए एक ही नाम को बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा– इन चार श्रेणियों से जपा जाता है। नाम वही है केवल जपने के तरीके का विशेषण लगा है। बैखरी जप सब सुन सकते हैं क्योंकि यह व्यक्त हो जाता है। नाम वही है विशेषण लग गया मध्यमा! मध्यम अर्थात् धीरे-धीरे इस ढंग से नाम जपें कि कोई बगल में बैठा भी हो तो उसे न सुनाई पड़े। आप उच्चारण करें श्वास और कण्ठ से, मुख में जिह्वा हिल सकती है, होंठ भी हिलते रह सकते हैं, कण्ठ की ध्वनि केवल आप ही सुन सकते हैं। इस मध्यमा से उन्नत विशेषण

है पश्यन्ती। पश्य माने होता है देखना! शान्त बैठकर श्वास को देखें; क्योंकि पश्यन्ती वाणी में जप का उतार-चढ़ाव श्वास पर होता है। शान्त बैठकर देखें कि कब साँस अन्दर आयी, कितनी देर भीतर रुकी, कब बाहर गयी, कितनी देर बाहर रुकी, पुनः लौटकर कब आयी? मन भली प्रकार साँस को देखने लगे तब आहिस्ते से चिन्तन में नाम को ढाल दें अर्थात् साँस आयी तो ओम्, गयी तो ओम्! यदि राम जपते हैं तो 'रा'...'म'...'रा'...'म'...– इस प्रकार श्वास से जप करें, श्वास में नाम को देखें। कुछ समय बाद नाम श्वास में ढल जायेगा, फिर तो एक बार सुरत लगा दिया, सहज नाम की धुन प्रवाहित हो जायेगी। इसी का नाम है विपश्यना– नाम विशेष रूप से देखने में आ गया। नाम पर दृष्टि स्थिर हो गयी। इसी जप का नाम है अजपा। अ माने नहीं, जप माने जप करना। हम जप न करें फिर भी जप हमारा साथ न छोड़े। एक बार सुरत लग गयी तो नाम की डोर लग गयी– ओम्-ओम्-ओम्-ओम्..... एक लहर, एक धुन प्रवाहित हो गयी। इसी का नाम परावाणी भी है क्योंकि यह 'प्रकृति पार प्रभु' में प्रवेश दिला देनेवाली वाणी है। इसी परावाणी की परिपक्व अवस्था के काल में अनन्त नामों की रील शान्त होती है। एक बार सुरत लग गयी तो ओम्-ओम् या राम-राम। जिस क्षण एक नाममात्र रह जाय और अनन्त संकल्प-विकल्प एकदम लुप्त हो जायँ, बस यही है एकमात्र नाम की स्थिति! यह स्थिति जिस क्षण आयी, दूसरे ही क्षण वह व्यक्ति तर जाता है, तारने की शक्तिवाला होता है।

मनुष्य श्रद्धा का पुतला होता है। कहीं न कहीं इसकी श्रद्धा अवश्य रहती है। अपनी श्रद्धानुसार वह भगवान का नाम लेता ही रहता है। भगवान के अनेक नाम पुस्तकों में लिखे हैं। नाम का संकीर्तन, हरिकीर्तन भी गाँव-गाँव में होता ही रहता है। आबाल-वृद्ध सभी उसमें सम्मिलित होते हैं। प्रातः चार बजे उठकर मातायें भजन गाती हैं। इस प्रकार हम सब जो नाम का जप कर रहे हैं, यह हमारा पुण्य है, पुरुषार्थ है, उद्योग है। यह भजन का आरम्भिक स्तर है। भजन की आधी दूरी तक यह नाम-संकीर्तन साथ चलता है। इसके आगे आवश्यकता होती है नाम की जागृति की, भजन की जागृति की और नाम

की वह जागृति, पूर्ण निवृत्ति दिला देनेवाले भजन की जागृति किसी सद्गुरु के द्वारा ही होती है। उस जागृति का अन्य कोई उपाय नहीं है। वह शून्य में नहीं फलती। इसी आशय का माता मीरा का यह भजन है कि,

पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुर किरपा करि अपनायो। पायोजी....

राम-नाम एक रतन है, शुद्ध आत्मिक सम्पत्ति है, निज धन है। उसको हमने प्राप्त कर लिया। यह अनमोल है। इसका मूल्य कोई चुका ही नहीं सकता। इसके बराबर की कोई वस्तु सृष्टि में है ही नहीं। संत कबीर कहते हैं–

राम नाम के पटतरे देबे को कछु नाहिं।
क्या लै गुरु संतोषिये हौंस रही मन माहिं।।

कोई वस्तु देकर इस नाम रतन को नहीं खरीदा जा सकता। इस अमोलक वस्तु को **'दी मेरे सतगुरु'**– हमारे गुरुदेव ने प्रदान किया है। यह उनकी कृपा ही है जो उन्होंने मुझे अपना लिया।

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।।

(रामचरितमानस, 7/46/5)

संसार में अहेतुकी कृपा करनेवाले (जिनको बदले में कुछ लेने का कोई प्रयोजन नहीं है, उनका कोई स्वार्थ नहीं है, ऐसी कृपा करनेवाले) सृष्टि में केवल दो हैं– भगवन्! एक तो आप और दूसरे आपके अंतरंग भक्त या सेवक। इसलिए गुरुदेव का कोई स्वार्थ नहीं था। उन्होंने तो केवल 'किरपा करि अपनायो।'

अयोध्या के समीप नन्दीग्राम में तपस्यारत भरत के पास हनुमान पहुँचे। उन्होंने देखा, कुश के आसन पर भरत बैठे थे। आँखों में अश्रु, कण्ठ पर नाम और हृदय में राम का स्वरूप था–

बैठि देखि कुसासन, जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत, स्त्रवत नयन जल जात।।

(रामचरितमानस, 7/1 ख)

भरत की जटायें उलझ गयी थीं, वही उनका मुकुट जैसा था। **'कृस गात'**– वह अत्यन्त दुर्बल हो चले थे। **'राम राम रघुपति जपत, स्त्रवत नयन जल जात।'**– वह निरन्तर नाम जप रहे थे। केवल एक नामवाली स्थिति शेष थी। भरत की उस रहनी को देखकर मुनिराज भी लज्जित हो जाते थे। हनुमानजी की आँखों में प्रेमाश्रु छलक आये,

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ।।
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी।।

(रामचरितमानस, 7/1/1-2)

हनुमान को एक सच्चे भक्त का दर्शन कर अपार हर्ष हुआ। वह अमृत के समान वाणी बोले–

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती।।
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता।।

(रामचरितमानस, 7/1/3-4)

आप जिसके विरह में दिन-रात सोचते हैं, जिनके गुण-गणों की पंक्तियों का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, रघुकुलमणि वह परमात्मा राम भाई लक्ष्मण, सीता और सखाओं के साथ आ गये। उन्होंने रण में शत्रुओं को जीत लिया है। सबलोग उनका गुणगान कर रहे हैं। 'राम आ गये' इतना सुनना था,

सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा।।

(रामचरितमानस, 7/1/6)

जैसे प्यास से तड़पता हुआ कोई प्यासा, जिसके प्राण संकट में हों, अमृत पा गया हो। उसी तृप्ति के साथ भरत बोले–

एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं।।
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही।।

(रामचरितमानस, 7/1/13-14)

हे तात! हमने विचार कर देख लिया कि इस सन्देश के समान सृष्टि में कुछ है ही नहीं; क्योंकि राम के रोम-रोम से अनन्त सृष्टि उत्पन्न होती और

विलीन होती रहती है इसलिए 'राम आ गये'– इस संदेश के समकक्ष देने लायक सृष्टि में कुछ है ही नहीं। इसलिए हनुमान! मैं तुम्हारा ऋणी हो गया। अब प्रभु का चरित्र सुनाइये। हनुमान ने कहा– अभी चरित्र सुनने का समय नहीं है। आकाश में यह जो चिड़िया जैसी उड़ रही है, इसी में हैं रामजी। इतने में पुष्पक उतर गया, प्रभु आ गये। यह है नाम की जागृति, भजन की जागृति! यह जब होती है, सद्गुरु से ही होती है। इसीलिए माता मीरा कहती हैं कि यह **'वस्तु अमोलक'**। कौन-सी वस्तु? नाम की जागृति! किसने दी? तो **'दी मेरे सतगुर'**। वह भी कृपा करके दे दी– **'किरपा करि अपनायो।'** इस रतन के लिए हम कब से प्रयत्नशील थे? माता मीरा कहती हैं–

जनम जनम की पूँजी पायो, जग में सभी खोवायो।

इस रत्न को ढूँढ़ने के लिए हमने जनम-जनम से प्रयास किया था किन्तु प्राप्त आज हुई, वह भी गुरु महाराज की कृपा से। काकभुशुण्डिजी ने कहा था–

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं।।
देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं कि नाईं।।

(रामचरितमानस, 7/95/8-9)

अब कौन-सा सुख मिल गया? उसे बताते हैं,

राम भगति एहिं तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी।।

(रामचरितमानस, 7/95/4)

इस शरीर में, मेरे हृदय में भक्ति का जन्म हो गया। यही जन्म-जन्मान्तरों के प्रयास की सार्थकता है। माता मीरा भी यही कहती हैं कि जगत् में सबने जन्म-जन्म की पूँजी को नश्वर सुखों के पीछे खो दिया किन्तु गुरु महाराज की कृपा से हमें यह 'राम रतन धन' प्राप्त हो गया।

उस पूँजी की तलाश सबको है। सब विकल हैं शान्ति के लिए; किन्तु उस शान्ति को धन-वैभव, पद-प्रतिष्ठा में ढूँढ़ने लगते हैं। कोई धन छिपाकर बाथरूप में रखता है तो कोई विदेश में! वह पूँजी ही ढूँढ़ रहा है, किन्तु जहाँ नहीं है वहाँ ढूँढ़ रहा है और अपने लिये विपत्ति ही ढूँढ़ता है। वह जन्म-

जन्मान्तरों की पूँजी जगत् की चकाचौंध में ही खो देता है जबकि नाम-जागृति के पश्चात् यह राम रतन धन–

खरच न खूँटै चोर न लूटै, दिन-दिन बढ़त सवायो।

खूँटना अर्थात् समाप्त होना! भौतिक धन-सम्पत्ति खर्च करने से कम होते-होते थोड़े ही दिनों में समाप्त हो जाता है किन्तु जागृति के पश्चात् नाम-धन खर्च करने से समाप्त नहीं होता प्रत्युत दिनोंदिन सवाया बढ़ता ही जाता है। नाम का खर्च तब होगा जब आप जिह्वा से कहेंगे, चिन्तन से कहेंगे। जितना ही इसका प्रयोग करेंगे, उतना ही अभ्यास में वृद्धि होगी। जितना प्रदान करेंगे, उतनी ही इसकी वृद्धि होगी। चोर इसे लूट नहीं सकता। कोई अनुरागी श्रद्धालु ही इसे ले सकता है। कोई जब भी लेगा समर्पण से लेगा, कृपा से, अनुकम्पा से लेगा। **'दिन दिन बढ़त सवायो'**– जितना इसे खर्च करोगे, अभ्यास करोगे, उतना ही सवाई यह बढ़ता जायेगा।

सत की नाव खेवटिया सतगुर भवसागर तर आयो।

'सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार।'– परमहंस गुरुदेव की वाणी बारहमासी में है कि सत्य तत्त्व है परमात्मा और वहाँ तक पहुँचाने की नौका है नाम! इस नाव को खेनेवाले सद्गुरु हैं। यदि सद्गुरु आपको भजन में न लगायें, न उठायें कि उठ! बैठ! भजन में लग। देखो, अब खतरा आनेवाला है, यह संकल्प गलत है, अब भजन ठीक हो रहा है, चलित भजन कर, चलित ध्यान कर! इस प्रकार जब तक वह साधक को न चलायें, चलाकर रास्ते पर न ले आयें, सत्य की नाव को न खेयें, तब तक साधक का हर प्रयास अँधेरे में मारा हुआ तीर है। वह प्रयत्न अवश्य है लेकिन भजन जागृत नहीं है। सद्गुरु के निर्देशन, मार्गदर्शन से ही भजन का रास्ता तय होता है, भवसागर से पार होने का विधान है।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरषि हरषि जस गायो।

मीरा के प्रभु गिरि को धारण करनेवाले हैं, सृष्टि-चक्र के रक्षक, हर तरह का भार वहन करनेवाले! जबकि भजन कोई भार नहीं है। वह भार तभी

तक प्रतीत होता है जब तक भजन जागृत नहीं है और जब भजन जागृत हो गया तो कोई भार नहीं। वह एक हर्ष है, आह्लाद है, एक नशा है। मीरा कहती हैं– **'हरषि हरषि जस गायो।'**– मैं अत्यन्त आनन्दपूर्वक प्रभु का यशोगान करती हूँ।

मानस में है– **'भगति सुतंत्र सकल सुख खानी।'** *(रामचरितमानस, 7/44/5)*– भक्ति सम्पूर्ण सुखों की स्रोत है। किन्तु आरम्भिक अवस्था में भजन बहुत कठिन प्रतीत होता है–

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।।

(विनयपत्रिका, 167)

भक्ति कहने में तो सरल किन्तु करने में अत्यन्त कठिन है; क्योंकि–

आगि आँच सहना सुगम सुगम खड्ग की धार।
नेह निबाहन एक रस महाकठिन व्यवहार।।

राजस्थान में क्षत्राणियाँ पल भर में जौहर कर लेती थीं– **'आगि आँच सहना सुगम'**; यही नहीं **'सुगम खड्ग की धार'**– खड्ग की धार पर कितने ही योद्धा कट गये, यह भी सुगम; किन्तु **'नेह निबाहन एक रस'**– उन प्रभु में एकरस प्रेम का निर्वाह कर ले जाना **'महाकठिन व्यवहार'**। भजन वास्तव में कठिन है किन्तु यदि सद्गुरु भवसागर में साधक की नाव खेनेवाले हों, साधक में समर्पण हो तो शनैः-शनैः भजन जागृत हो जाता है जिससे प्रभु का प्रभाव जानने में आने लग जाता है। तब फिर भजन ही एक नशा है, भजन ही एक जीवन है, भजन करने में हर्ष होता है और उसके छूट जाने में दुःख होता है।

सीता की शोध में गये हुए हनुमान जब लंका से लौटे, प्रभु श्रीराम ने पूछा, सीता कैसी है? उसका समाचार बताओ। हनुमान ने कहा,

सीता कै अति विपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला।।

(रामचरितमानस, 5/30/9)

प्रभो! उनकी विपत्ति तो विशाल है। उसे बिना कहे ही भला है।

निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुजबल खलदल जीति॥

(रामचरितमानस, 5/31)

प्रभो! उनके हृदय में एक पल एक कल्प के समान व्यतीत होता है। आप शीघ्र चलें। अपनी भुजाओं के बल से दुष्टों के समूह को जीतकर उन्हें ले आइये। यहाँ बातों में जितने पल खर्च करेंगे, सीताजी के अन्तःकरण में वहाँ उतने कल्प बीत जायेंगे। रामजी ने पूछा– सीताजी ने और कुछ कहा? हनुमान बोले– सीताजी ने यही संदेशा दिया है कि,

मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहिं अपराध नाथ हौं त्यागी॥

(रामचरितमानस, 5/30/4)

प्रभो! मैं मन-क्रम-वचन से आपके चरणों की अनुरागिनी हूँ। वह कौन-सा अपराध है जिससे आपने मुझे त्यागा हुआ है? रामजी ने कहा– हनुमान! तुम एक तरफ तो कहते हो कि सीता की विपत्ति बहुत विशाल है और दूसरी ओर यह भी कह रहे हो कि वह मेरी अनुरागिनी है; दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं; क्योंकि,

बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहुँ बूझिअ बिपति कि ताही॥

(रामचरितमानस, 5/31/5)

मन-क्रम-वचन से जो मुझमें समर्पित है, स्वप्न में भी विपत्ति उसका स्पर्श कर ही नहीं सकती तो सीता को विपत्ति कैसी? हनुमान ने कहा–

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

(रामचरितमानस, 5/31/3)

प्रभो! विपत्ति के क्षण तो वे ही हैं जिन क्षणों में आपका भजन और सुमिरण नहीं होने पाता। रावण राक्षसियों को लेकर आता है, तलवार दिखाता है कि तुम्हें काट डालूँगा, मार दूँगा! बस यही व्यवधान है, यही विपत्ति है और कोई विपत्ति नहीं है। इसलिए,

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना।।

(रामचरितमानस, 5/33/3)

भजन उनकी खुराक है। भजन उनका एक सुरक्षित विश्राम-स्थल है। नाम की जागृति का ही एक संकेत देवर्षि नारद के प्रकरण में रामचरितमानस में द्रष्टव्य है। सीता चोरी जा चुकी थीं। भगवान राम दण्डकारण्य की एक स्फटिक शिला पर शान्त बैठे थे।

बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला।।

(रामचरितमानस, 3/40/4)

भगवान परम प्रसन्न बैठे थे। हर्ष की एक स्थिति है प्रसन्न, एक उसका भी अतिरेक– परम प्रसन्न! किसी की पत्नी खो जाय तो उसे कई-कई दिन नींद नहीं आयेगी। इन भगवान की पत्नी अभी-अभी खोयी है और **'बैठे परम प्रसन्न कृपाला'**– वे अनुज लक्ष्मण से रसभरी कल्याणकारी कथा कह रहे हैं। नारद की उन पर दृष्टि पड़ी तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ–

मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा।।

(रामचरितमानस, 3/40/6)

मेरे श्राप को स्वीकार कर राम नाना प्रकार के दुःखों का बोझ ढो रहे हैं। भगवान को कहीं श्राप लगता है क्या? वह तो सबसे परे हैं, शुभाशुभ से अतीत हैं किन्तु भक्त के मान-सम्मान की रक्षा के लिए, उसके दुःख को बँटाने के लिए प्रभु ने स्वयं ही उस दुःख को अपने ऊपर ले दिया। इतने में नारदजी को याद आ गये वे क्षण, जब वे बन्दर का मुख लगाकर कन्या के समक्ष जाने के प्रयास में कभी इधर तो कभी उधर उछल कर जा रहे थे। उस कन्या ने भी जयमाल दिखाकर, उन्हें प्रलोभन दे उनकी दुर्दशा कर भगवान के गले में वरमाल को डाल दिया और निकल गयी। विकलता के वे क्षण नारद को याद आ गये। उन्होंने सोचा– अब जरा पूछकर देखूँ कि जो मुख लटकाकर बैठे हैं, पता चला कि ब्याह बिगाड़ने में कितना कष्ट सहन करना पड़ता है?

तब विवाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा।।

(रामचरितमानस, 3/42/3)

प्रभो! ऐसा कौन-सा कारण था जो आपने हमें विवाह नहीं करने दिया? अब आप बुलुक-बुलुक रोवत हो! पता चला? तब भगवान को किञ्चित् रोष आ गया कि इस मूर्ख को हमने बचा लिया और इसे पता ही नहीं।

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।

(रामचरितमानस, 3/42/4-5)

उन्होंने रोष से कहा जिससे यह तथ्य नारद की समझ में आ जाय– हे मुनि! अन्य सबका भरोसा त्यागकर केवल मुझ पर निर्भर होकर जो भजते हैं, मैं सदैव उनकी उसी प्रकार रक्षा किया करता हूँ जैसे शिशु की रक्षा माता किया करती है। कभी छोटा शिशु हिलते-डुलते सर्प को खिलौना समझकर पकड़ना चाहता है या चमक देखकर अग्नि को पकड़ने दौड़ता है, उस समय माता उसे समझाने का प्रयास नहीं करती, क्योंकि मना करने से वह मानेगा भी नहीं। बच्चा घुटनों के बल सर्प पकड़ने चल पड़ा, उसे मना करने पर वह अपनी गति बढ़ा लेगा कि यह हमें पकड़कर कहीं हमारा खिलौना न छीन ले,

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई।।

(रामचरितमानस, 3/42/6)

माता उस शिशु को उठाकर सर्प से अलग कर देती है। इसी प्रकार नारदजी! मैं अपने अंतरंग भक्तों की रक्षा कर दिया करता हूँ। प्रभु के इसी स्वभाव का वर्णन कागभुशुण्डिजी ने गरुड़ के प्रति किया–

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं।।
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर।।

(रामचरितमानस, 7/74 क)

जैसे छोटे बच्चे के शरीर में फोड़ा हो गया हो, मवाद भर गया हो, सड़न हो रही हो तो माता किसी निर्दय की तरह उसे किसी शल्य चिकित्सक से चीर-फाड़ करा देती है। उस समय यद्यपि वह बालक अधीर होकर रोता है,

माँ का मुँह देखता है किन्तु उस मूल व्याधि के नाश के लिए माँ उसकी क्षुद्र पीड़ा पर ध्यान नहीं देती; वह उसे सदा-सदा के लिए व्याधिमुक्त करना चाहती है। इसी प्रकार देवर्षि का भी प्रकरण है। नारदजी ने बहुत छल किया, बहुत श्राप दिया किन्तु मूल व्याधि के अन्त के लिये भगवान ने उनकी तात्कालिक पीड़ा पर ध्यान नहीं दिया। नारदजी भगवान के चरणों में लेट गये। वह बोले– प्रभो! एक प्रार्थना है। इससे आपको इतना श्रम भी नहीं करना होगा यदि मेरा यह निवेदन स्वीकार कर लें कि–

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका।।
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका।।

(रामचरितमानस, 3/4/7-8)

प्रभो! आपके नाम तो अनन्त हैं, एक से एक बढ़कर हैं किन्तु राम नाम उन सभी नामों से अधिक हो। वह पापरूपी पक्षियों का वध करने में समर्थ हो। जब पाप रहेगा ही नहीं तो हमें भटकायेगा कौन? हमें दुर्बुद्धि कौन देगा? व्याह के लिए तैयार कौन करेगा?

भगवान श्रीकृष्ण ने आदिशास्त्र गीता में ओम् जपने का निर्देश दिया था। गीता हमारा–आपका, मानव-मात्र का धर्मशास्त्र है। आज संस्कृत हमारे बोलचाल की भाषा नहीं रह गयी इसलिए गीता कठिन प्रतीत होती है किन्तु यह कठिन बिल्कुल नहीं है। आप भारत की विभिन्न भाषाओं तथा प्रख्यात विदेशी भाषाओं में प्रकाशित गीता की यथावत् व्याख्या 'यथार्थ गीता' की चार आवृत्ति करें तो धर्म के विषय में कभी कोई भ्रान्ति नहीं होगी। उस जमाने में लोग ओम्-ओम् जपते थे। वो अहम्, सो अहम् अर्थात् वह परमात्मा मुझमें है। यह 'ओम्' शब्द प्रभु के निवास-स्थान का परिचायक है। उसी को भक्तिकालीन ऋषि राम-राम जपने लगे। नारद ने वरदान माँग लिया कि **'राम सकल नामन्ह ते अधिका।'** भगवान ने वरदान दे भी दिया।

प्रश्न स्वाभाविक है कि 'राम' ही अधिक महत्व का क्यों? वास्तव में **'रमन्ते योगिनः यस्मिन् स राम।'**– योगीजन जिसमें रमण करते हैं, वह सत्ता है राम! योगी किसमें रमण करते हैं?

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि सन्ता॥

(रामचरितमानस, 3/12/12)

यद्यपि वह ब्रह्म अखण्ड है, अनन्त है, किन्तु वह अनुभवगम्य भी है। अनुभव के द्वारा वहाँ पहुँचा जा सकता है, अनुभव के द्वारा वह सुलभ है। इसलिए अनुभव के आश्रित जो उन्हें भजते हैं, वही सन्त होते हैं। अन्य तरीकों से भजनेवाले सन्त हैं ही नहीं। लोक-व्यवहार में प्रायः लोग कहते ही रहते हैं कि हमने अनुभव करके देख लिया कि यह खेत तो बीज को ही ले डूबता है; हमने अनुभव करके देख लिया कि अब शहरों की हर गली में आटो रिक्शा सुलभ है; हमने उधार देकर देख लिया; हमने ठोकर खाकर अनुभव कर लिया..... इत्यादि। बीती घटनाओं से मिलनेवाली सीख को लोग अनुभव कहने लगे।

अध्यात्म में ऐसा नहीं है। भव कहते हैं संसार को। अनु कहते हैं अतीत को! संसार से अतीत करनेवाली विशेष जागृति का नाम अनुभव है। वह है परमात्मा का निर्देशन। जिस परमात्मा की हमें चाह है, जिस सतह पर हम बैठे हैं, हमारी पुकार ऐसी हो कि वह प्रभु हमारी सतह पर उतर आयें, हमारी आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जायँ, हमारा मार्गदर्शन करने लगें, कहीं भूल हो रही हो तो वे सावधान कर हमें रोक दें; साधना सही है तो हमारी पीठ थपथपा दें कि बेटा! बढ़ते चलो, बिल्कुल ठीक है। वह हमें भजन के लिये उठायें, बैठायें, जगायें; खान-पान, रहन-सहन, आँख से देखना, पाँव से चलना, कान से सुनना– प्रत्येक इन्द्रिय, प्रत्येक परिस्थिति में नियन्त्रण कर हमें चिन्तन-पथ पर ले चलें। परमात्मा की इस संचार-प्रणाली का, इस प्रशक्ति का नाम है अनुभव। अनुभव ही राम है। योगीजन अनुभव में रमण करते हैं। विज्ञानरूपी राम! उनकी जागृति और प्रसारण का नाम है विज्ञान! यह है बेज्ञान का ज्ञान! बेतार का तार!,

जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवनि बिधि जाइ॥

(रामचरितमानस, 7/80 क)

बेदृश्य का दृश्य, बिना तार का तार– परमात्मा के इस संचार का नाम है राम! नाम-जप के साथ प्रभु मार्गदर्शन करने लगते हैं। यदि भजन संतोषजनक चल रहा है, साँस सही चल रही है तो दाहिने नाक का भीतरी भाग फड़ककर बताता है कि साँस का चिन्तन अन्तर्मुखी है। नाक का ऊपरी भाग फड़केगा कि साँस ठीक चल रही है। बाँयी नाक फड़ककर बताती है कि साँस भटक गयी, साँस से तुम्हारा चिन्तन भटक गया। प्रभु जो अनुभव देते हैं, उसके कई प्रकार हैं; जैसे– अंग-स्पन्दन की क्रिया, स्वप्न-सुरा सम्बन्धित अनुभव, भजन में बैठे हैं तो सुषुप्ति-सुरा सम्बन्धित अनुभव, प्रभु से तारतम्य जुड़ गया हो तो सम-सुरा सम्बन्धित अनुभव, आकाशवाणी इत्यादि। भगवान जब बताना शुरू करते हैं तो सृष्टि में सर्वत्र से बोलने-बताने लगते हैं। चूँकि वह सर्वत्र हैं इसलिए वृक्ष से, खम्भे से, द्वार से, उड़ते हुए पक्षी से, राह चलते हुए व्यक्ति से भी वह आपको सन्देश दे सकते हैं जिसे साधक खटाखट समझता जाता है, उसी के अनुरूप चलता जाता है। इसी अनुभव को समझते हुए साधक साधना में प्रवृत्त रहता है। यह जागृति जब भी मिलती है तो किसी सद्‌गुरु के द्वारा ही मिलती है–

वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुर।

यह जागृति दुर्लभ वस्तु है। इसकी कीमत चुकाना असम्भव है। यह जागृति सद्‌गुरु की कृपा का प्रसाद है। जब इस जागृति से संयुक्त नाम चलता है तो नाम राम से संयुक्त है। इसके पश्चात् भगवान को अवतार लेकर आपकी विपत्ति को दूर नहीं करना पड़ता। वह तो आपके मन में ही हर समय निर्देशनों के द्वारा आगे-पीछे सब ओर से आपकी रक्षा करते हुए, आपको बचाते हुए भजन पथ पर अग्रसर करते जायँगे। जागृति के पश्चात् यही राम–

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहइ घ्रान बिनु बास असेखा।।
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।

जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

(रामचरितमानस, 1/118)

वेद और प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष जिसका इस प्रकार गायन करते हैं और मुनिलोग जिसका ध्यान धरते हैं......मुनिलोग किसी पत्थर की मूर्ति का ध्यान नहीं धरते। वे उसका ध्यान करते हैं जो बिना पाँव के चल रहा है, बिना आँखों के सब कुछ देख रहा है; क्या कोई कैमरा उसका चित्र खींच सकता है? वह बिना हाथ के काम कर रहा है, बगैर तन के स्पर्श कर रहा है। यह सब अनुभवगम्य है। यह है विज्ञानरूपी राम! आपकी साधना का जैसा स्तर है, भगवान उतना ही बताते हैं। साधना की जागृति की आरम्भिक अवस्था में अंगस्पंदन, सुषुप्ति सुरा के अनुभव मिलते हैं। शेष उन्नत अनुभव साधना-स्तर उठने पर मिलते हैं। साधना संतोषजनक हो जाने पर भगवान आपके मन को नाथ कर उसकी लगाम अपने हाथ में ले लेते हैं– **'जाके रथ पर केसो, ता कहँ कौन अँदेसो।'** फिर तो उन्हीं के संरक्षण में चलकर पुरुष वहाँ पहुँच जाता है जहाँ बैठकर वह प्रभु प्रसारण करते हैं। जहाँ उस मूल का साधक ने स्पर्श किया तो,

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई। *(रामचरितमानस, 2/126/3)*

उन्हें जानकर वह वही हो गया। सेवक सदा के लिए खो गया। वहाँ जाकर अनुभव पूर्ण हो जाता है, भगवान का सहज स्वरूप ही शेष बचता है। न अलग कोई सेवक है, न स्वामी। ईश्वर-भाव में स्थिति मिल जाती है। द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। अब संसार है ही नहीं तो कोई भवसिंधु में डूबेगा कहाँ?

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥

(रामचरितमानस, 1/111/2)

जगत् खो जाता है, कहीं गिरने की कोई संभावना ही नहीं है। इसलिए जब तक यह नाम अनुभवों से संयुक्त नहीं है तब तक यह अधूरा है। यह लाभदायक हो सकता है, पुण्य-पुरुषार्थ को बढ़ाता है किन्तु खतरा बना हुआ

है। नारद की तरह बन्दर का मुखौटा पहनकर घूमना पड़ सकता है लेकिन जब नाम-चिन्तन के साथ-साथ जब अनुभवी विज्ञानरूपी राम– वह परमात्मा हमें उठाये, बैठाये, चलाये, बिना हाथ-पाँव के कार्य करनेवाले राम से संयुक्त जब नाम जप चलता है तो निश्चित कल्याण करनेवाला होता है। पापरूपी पक्षी इस नाम की जागृति के साथ झुलसते चले जाते हैं, साधक आगे बढ़ता चला जाता है। निःसन्देह भगवान के अनन्त नाम हैं, सभी कल्याणकारी हैं किन्तु **'राम सकल नामन्ह ते अधिका'**। यह है भजन की जागृति। इसके पश्चात् साधन मार्ग में खतरा संभव नहीं है और यह जागृति किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के द्वारा होती है। **'वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुर।'**

आज रामजी सबको सुलभ नहीं हैं। नारदजी को वह दिखायी दे रहे थे इसलिए उन्होंने पूछ लिया। आप किससे पूछेंगे? कौन उत्तर देगा? वस्तुतः किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के द्वारा ही यह जागृति होती है। इसीलिए माता मीरा कहती हैं– **'दी मेरे सतगुर'**– इस सत्य तक की दूरी तय करनेवाली नौका है नाम! खेनेवाले हैं सद्गुरु! इस प्रकार **'भवसागर तरि आयो।'**– उन्होंने अगाध भवसागर पार कर लिया। आप सब भी प्रयास करें।

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

राम कहत चलु भाई रे

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा।।

(रामचरितमानस, 7/95/2)

बोलो श्रीराम जय राम जय जय राम।

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई।।
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना।।
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई।।
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।

(रामचरितमानस, 7/125/4-7)

सम्पूर्ण तीर्थों का भ्रमण, सम्पूर्ण साधनों का समुदाय, योग और वैराग्य, ज्ञान में दक्षता, मानव-सेवा और संत सत्‌गुरु की सेवा '**सब कर फल हरि भगति भवानी।**'– इन सबका फल है एक हरि की भक्ति! तीर्थों के अवगाहन से, व्रतों के परिपालन से, ये साधन वेदवर्णित हैं। इन सबके अनुष्ठान से जब भक्ति जागृत हो गयी तो फिर उसे तीर्थ अपना फल दे चुके, उस परिधि से आप आगे बढ़ गये हैं। अब शांत-एकान्त में बैठकर चिन्तन करें।

प्रायः लोग सोचते हैं कि सद्‌गृहस्थ आश्रम में रहते हुए एकान्त कहाँ? लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि पहले घर-द्वार त्यागकर जंगल में जाकर कहीं एकान्त में बैठने से चिन्तन होता है। किन्तु जंगल में भी आप वहीं हैं जहाँ आपका मन है। एकान्त मन में होता है। नाम-जप का अभ्यास बढ़ाने पर इसमें उत्तरोत्तर समय देने के साथ ही मन में एकान्त होने लगता है। इसलिए चलते-फिरते, उठते-बैठते हर समय नाम-जप चलता रहना चाहिए। ईश्वर-पथ की साधना में नाम ही प्रथम है और अन्त में नाम ही परिणाम देकर शान्त हो जाता है। उस स्थिति में '**भजन हमारा हरि करें, हम पायो विश्राम।**'– आप पेंशनर हो जायेंगे। उसके पश्चात् नाम जपने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। साधना में लगन अर्थात् रुचि होनी चाहिए। उसके लिए आवश्यक

है श्रद्धा और समर्पण! और फिर समर्पण के साथ सदैव चिन्तन करें। इसी आशय का एक प्रेरणादायक पद गोस्वामी तुलसीदासजी का है–

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तौ भव बेगारि महँ परिहै, छूटत अति कठिनाई रे।।1।।
बाँस पुरान साज सब अठकठ, सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचँद, मंद मोल बिनु डोला रे।।2।।
विषम कहार मार-मद-माते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे।।3।।
काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिअ दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे।।4।।
मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भव त्रास हरहु अब, होउ राम अनुकूला रे।।5।।

इन महापुरुष का कथन है कि '**राम कहत चलु राम कहत चलु**'– बस केवल '**राम कहत चलु भाई रे।**' बस भैया इतना ही करो कि चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, नहाते-धोते– हर समय तुम राम-नाम कहते चलो। ईश्वर का नाम जपने के लिए कोई जगह अपवित्र नहीं होती। कोई फूल बिछाकर बैठ जाय, यदि प्रेमपूरित हृदय से नाम का स्मरण नहीं होता तो वह जगह अपवित्र है। इसलिए हर परिस्थिति में, खेत जोतते हुए, ड्यूटी करते हुए, कारोबार में जाते हुए, पढ़ते हुए, खाना खाते, पानी पीते '**राम कहत चलु भाई रे**'। यदि ऐसा नहीं करोगे तो,

नाहिं तौ भव बेगारि महँ परिहै छूटत अति कठिनाई रे।

भव अर्थात् पैदा होना, जन्म लेना। पुनर्भव अर्थात् फिर पैदा हो जाना, जन्म की पुनरावृत्ति। शरीर गया और फिर शरीर मिला। इन शरीरों का क्रम इतना अधिक है कि 'भवसागर'– जन्म-जन्मान्तरों का एक समुद्र तैयार हो गया। गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि राम का सुमिरण नहीं करोगे तो '**भव बेगारि**'– आवागमन के बेगार में पकड़ लिये जाओगे, जहाँ से बच निकलना अत्यन्त कठिन है।

बेगार वह श्रम है जिसके बदले में श्रमिक को कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता। संसार में लोग जो कुछ भी करते हैं, एक बेगार ही है। पिता बनकर, पुत्र बनकर, माता बनकर, भाई-बन्धु-सम्बन्धी बनकर जो कुछ किया जा रहा है, सब बेगार है। यह तो सृष्टि में जन्म-मरण के सम्बन्ध हैं। उनके व्यवहार पर दृष्टि है, सत्य पर दृष्टि नहीं है।

महाभारत युद्ध में कौरव सेनापतियों ने अभिमन्यु की हत्या कर दी। अर्जुन बौखला गया। अपने पक्ष के महारथियों को उलाहना देता हुआ वह बोला, ''तुमलोग किस बात के शूरवीर हो! तुम सब मिलकर एक बालक की रक्षा भी नहीं कर सके।'' भीम ने कहा, ''हमलोग पूरे पराक्रम से लड़े लेकिन जयद्रथ के कारण एक कदम आगे नहीं बढ़ सके; क्योंकि जयद्रथ को शंकरजी का वरदान था कि जिस दिन अर्जुन युद्ध में नहीं रहेगा, उस दिन तुम चारो पाण्डवों पर भारी पड़ोगे। उस दिन वह वरदान लड़ रहा था।'' अर्जुन को लगा कि सारे अनर्थों के मूल में जयद्रथ था इसलिए उसने प्रतिज्ञा की कि कल सूर्य अस्त होने से पूर्व यदि उसने जयद्रथ का वध नहीं किया तो वह दहकती हुई चिता पर बैठकर आत्मदाह कर लेगा।

जब वह प्रतिज्ञा कर चुका तब भगवान ने टोंका, ''अर्जुन! तुम प्रतिज्ञा क्यों करते हो?'' भगवान का तात्पर्य था कि कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। तू केवल आदेश का पालन करता जा, विजय तुम्हारी है। युद्ध आरम्भ होने से पहले गीता का उपदेश सुनते समय अर्जुन भगवान का विराट स्वरूप देख चुका था। उस समय भगवान ने दिखाया भी था कि वह सूतपुत्र कर्ण, वह जयद्रथ, वे भीष्म और द्रोण अस्त्र-शस्त्र बरसाते हुए बड़े वेग से भगवान के मुख में प्रवेश करते जा रहे थे, कुछ भगवान की दाढ़ी में चिपके दिखाई दे रहे थे। भगवान उन सबको चट करते जा रहे थे। अर्जुन ने पूछा था, ''भगवन्! यह सब क्या है?'' भगवान ने कहा था, ''ये सब मेरे द्वारा मारे गये मुर्दे हैं। मेरे द्वारा पहले ही मारे गये इन मुर्दों को मार और यश ले। काम मैं कर दूँ, यश तू ले ले, विजय तुम्हारी होगी। कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। तू निमित्त मात्र हो जा। मैं बढ़ा हुआ काल हूँ। तुम युद्ध नहीं करोगे तब भी ये जीवित नहीं बचेंगे।''

अर्जुन पूर्ण आश्वस्त हो गया। वह भगवान के निर्देशन में युद्ध भी कर रहा था लेकिन जीवन में कभी-कभी कुछ घटनायें ऐसी होती हैं कि मनुष्य अपना संतुलन खो बैठता है। इन परिस्थितियों में सर्वोपरि है पुत्र-मोह! पुत्र-मोह में द्रोणाचार्य की मृत्यु हो गयी। उन्हें वरदान था कि उनके हाथ में शस्त्र रहते हुए उन्हें कोई मार नहीं सकता था। आवश्यकता पड़ने पर भगवान ने उनकी मृत्यु का संयोग उपस्थित कर दिया। एक हाथी का नाम था अश्वत्थामा। वही नाम द्रोणपुत्र का भी था। भगवान ने भीम से कहा, ''उस हाथी को मारकर घोषणा करो कि अश्वत्थामा मारा गया।'' द्रोणाचार्य विश्वास कर लें, इसके लिए युधिष्ठिर को यह कहने का कार्य सौंपा गया। युधिष्ठिर ने कहा, ''मैं असत्य नहीं बोल सकता। मैं बता दूँगा कि अश्वत्थामा मनुष्य या हाथी मारा गया।'' भगवान ने कहा, ''आप जैसा कहना चाहते हैं, वैसा ही कहें।'' योजनानुसार भीम उस हाथी को मारकर उछलने लगा कि अश्वत्थामा मारा गया। द्रोण संशय में थे कि युधिष्ठिर ने भी कहा, ''अश्वत्थामा हतो...'' वह 'नरो वा कुंजरो' कहते, इसके पहले ही भगवान ने शङ्ख बजाकर उनकी आवाज को आगे सुनने नहीं दिया। 'अश्वत्थामा हतो'– इतना सुनना था कि द्रोण की मुट्ठी ढीली पड़ गयी। धनुष उनके हाथ से गिर गया। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर युद्धभूमि में युद्ध से विरत होकर बैठ गये। इतने में उनका गला कट गया। पुत्रमोह में महाराज दशरथ मर गये। पुत्रमोह में ही अंधे धृतराष्ट्र ने अपने सौ पुत्रों को इस दुराशा में मरवा डाला कि वे और समृद्धिशाली राजा हों, जबकि उनके पास कोई कमी नहीं थी। एक बाप की सारी ममता पुत्र पर होती है। आदि शंकराचार्य के शब्दों में–

'के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः।' *(प्रश्नोत्तरी, 29)*

शत्रुओं में भी सबसे दुर्जय शत्रु जो मित्र की तरह प्रतीत होते हैं, कौन हैं? उन्होंने स्वयं बताया– अपनी आत्मा से उत्पन्न पुत्र इत्यादि! इसीलिए अर्जुन भी पुत्र-मोह से विचलित होकर भूल गया कि कर्ता-धर्ता तो भगवान हैं, मैं तो उनके हाथ का यंत्र मात्र हूँ। उसने भगवान से पूछा भी नहीं और तैश में आकर प्रतिज्ञा कर बैठा।

भगवान ने टोका, ''अर्जुन! तुमने प्रतिज्ञा क्यों की?'' अर्जुन ने कहा, ''केशव! प्रतिज्ञा तो मैं कर चुका।'' श्रीकृष्ण बोले, ''अरे, विचार तो कर लो। प्रतिज्ञा से भी अधिक कल्याणकारी विकल्प हो सकते हैं। इससे भी अच्छा परिणाम निकल सकता है। विचार तो कर लो कि समस्या क्या है?'' अर्जुन ने कहा, ''कुछ नहीं केशव! रथ को युद्धभूमि की ओर ले चलिये।'' भगवान ने कहा, ''अरे, सोच तो ले!'' अर्जुन बोला, ''बस प्रभो! प्रण पूरा होना चाहिए।'' भगवान ने कहा, ''हमें क्या? मैं रथ ले चलता हूँ।''

दूसरे दिन भगवान ने कुछ दूर रथ दौड़ाया और उसे खड़ा कर दिया। अर्जुन ने पूछा, ''प्रभो! क्या हुआ?'' श्रीकृष्ण ने कहा, ''घोड़े थक गये हैं। इन्हें आराम चाहिए, इनको मालिश चाहिए, इन्हें पानी चाहिए।'' अर्जुन महान पराक्रमी था। उसने धरती में बाण मारकर तत्काल जलस्रोत बना दिया। बाणों का ऐसा घेरा डाल दिया कि श्रीकृष्ण, रथ और घोड़े सभी सुरक्षित हो गये। कौरवों ने कहा, ''दो दिन पहले हम सब महारथियों ने अभिमन्यु को मार डाला था, जबकि वह रथ पर था। आज उसका पिता अर्जुन पैदल है। इसे इसी समय मार डालो।'' कौरव सेना ने हमला कर दिया। अर्जुन फिर अर्जुन था! उसने दिव्य अस्त्रों से सबको तितर-बितर कर दिया। दो घड़ी तक भगवान मन बहलाते रहे *(ढाई घड़ी का एक घण्टा होता है),* तब वह बोले, ''अर्जुन! रथ तैयार है।'' अर्जुन लपककर रथ पर चढ़ गया।

यहाँ वहाँ कुछ देर तक रथ दौड़ाकर भगवान ने कहा, ''अर्जुन! तुम्हें ज्ञात है कि जयद्रथ यहाँ से बारह कोस दूर है। बीच में कौरवों की व्यूहबद्ध सेना खड़ी है। इन सबको मारने-काटने के पश्चात् ही जयद्रथ तक पहुँचा जा सकता है।'' अर्जुन ने कहा, ''भगवन्! वह दुष्ट चाहे समुद्र पार ही क्यों न हो, आप रथ ले चलिए।'' रथ चल पड़ा। भगवान ने सोचा, व्यर्थ का इतना श्रम क्यों किया जाय? जरा-सी तो बात है– जयद्रथ-वध! ऐसा कुछ उपाय करूँ कि स्वयं जयद्रथ मरने के लिए यहीं चला आये। भगवान ने रथ खड़ा कर दिया। अर्जुन ने कहा, ''भगवन्! अब क्या हुआ?'' भगवान बोले, ''अर्जुन! सूर्य अस्त हो गया।''

युद्ध रुक गया। कौरव सेना में हर्ष की लहर दौड़ गयी। अर्जुन के लिये चिता तैयार हो गयी। अर्जुन चिता पर बैठ गया। आग लगाने के उपक्रम होने लगे। अर्जुन धैर्य खोकर बोल पड़ा, ''वाह! कैसा कह रहे थे **'निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्'**– अर्जुन! तुम निमित्त बनकर खड़े भर रहो। कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। विजय तुम्हारी होगी। कैसी बड़ी-बड़ी डींगे हाँक रहे थे। मुझे अपने इस अन्त का पता होता तो मैं आप पर विश्वास ही क्यों करता? अब हम मान गये कि भगवान कुछ नहीं, गुरु कुछ नहीं होता, भाग्य ही बलवान है। अब तो अपना बैर साधने के लिए मुझे फिर से जन्म लेना होगा।'' भगवान शिर झुकाते जा रहे थे, अर्जुन खरी-खोटी सुनाता जा रहा था।

शकुनि ने कहा, ''प्रिय दुर्योधन! ध्यान से इस ग्वाले की ओर देखो। इसका शिर कैसा लटकता जा रहा है! इसका सारा ज्ञान समाप्त हो गया लगता है। ऐसा करो, जयद्रथ को बुला लाओ। प्रिय भांजे! पुत्र के जन्म पर जो सुख होता है, उससे भी सहस्रों गुना सुख संकट में पड़े हुए शत्रु को मरते हुए देखकर होता है। जा, उसे शीघ्र बुला।'' जयद्रथ भी सुख भोगने चला आया। वह अर्जुन के ठीक सामने खड़ा होकर बोला, ''गाण्डीवधारी अर्जुन! प्रण पूरा करो। वीर! शीघ्र जलो। इस ग्वाले के माथे फूल रहे थे। दिव्य अस्त्रों के ज्ञाता अर्जुन! द्रोणशिष्य! प्रतिज्ञा पूरी करो।''

भगवान ने धीरे से गर्दन उठाया। उन्होंने देखा कि जयद्रथ सबसे अलग अर्जुन के ठीक निशाने पर खड़ा है। वह बोले, ''अर्जुन! तुम यह भी भूल गये कि एक शूरवीर महारथी कैसे चितारोहण करता है। वीर आसन से बैठकर जिस बाण से शत्रु का वध करना था उसका संधान करो, शत्रु के गले का निशाना साध कर, प्रत्यंचा खींचकर एक वीर की तरह चितारोहण करो।'' कौरव बहुत हँसे। उन्होंने कहा, बेचारा मरने जा रहा है लेकिन यह उपदेश देने से अब भी बाज नहीं आ रहा है। है तो ग्वाला लेकिन यह बुद्धि का बड़ा चपल है। अर्जुन भी भुनभुनाया कि अब वीर आसन से मरूँ या वैसे, जलना ही तो है। किन्तु बाल्यकाल से ही आज्ञाकारी सेवक होने से अर्जुन ने आदेश का पालन किया। ज्योंही उसने वीरासन से बैठकर निशाना साधा,

भगवान ने कहा, ''अर्जुन! देख वह सूर्य और यह रहा जयद्रथ। मार पापी को, निकलने न पाये।''

जयद्रथ का गला कट गया। भगवान ने कहा, ''इसका सिर पृथ्वी पर गिरने न पाये, दिव्यास्त्रों से इसे आकाश में ही रोके रखना। इसके पिता उस जलाशय में संध्या-वंदन कर रहे हैं। जब वह अंजलि में जल लेकर तर्पण कर रहे हों उसी क्षण इसका मुख नीचे रखते हुए उनकी अंजलि में डाल दो जिससे वह इसे पहचान न सकें।'' अर्जुन ने दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर वैसा ही कर दिया। शिर हथेली में गिरते ही वह वयोवृद्ध बिगड़े– मर पापी! यही समय था तुम्हें हमारे हाथ में गिरने का! ज्योंही वह शिर नीचे गिरा, एक विस्फोट हुआ। उस पिता के सहस्त्रों टुकड़े हो गये। जयद्रथ के पिता ने भी वरदान प्राप्त किया हुआ था कि जब वह कहें तभी उसके पुत्र की मृत्यु हो और जो भी उसके पुत्र का शिर जमीन पर गिराये, उसके भी शिर के सहस्त्रों टुकड़े हो जायँ। कोई पिता क्या कभी कहता है कि उसका पुत्र मर जाय? भगवान ने ऐसा अवसर उपस्थित कर दिया कि उसने कह दिया और स्वयं उसके ही सहस्त्रों टुकड़े हो गये। यही है कि **'जाके रथ पर केसो, ता कहँ कौन अँदेशो।'**

प्रतिज्ञा तो पूरी हो गयी लेकिन अर्जुन को यह बड़ी मँहगी पड़ी। युद्ध जब समाप्त हो गया, भगवान ने अर्जुन से कहा, ''हमारे बहुत से भक्त हैं। चलें उनकी परीक्षा हो जाय कि वे कैसे भक्त हैं?'' अर्जुन को गर्व था कि मैं ही सर्वोपरि भक्त हूँ। भगवान ने स्वयं तो सन्त का वेष बनाया, अर्जुन को अपना शिष्य बना लिया, साथ में एक शेर को पालतू बनाकर ले लिया और मणिपुर के समीप रत्नपुर के महाराज मोरध्वज के पास पहुँचे। मोरध्वज ने स्वयं सिंहासन से उठकर महर्षि का स्वागत-सत्कार किया, उनके चरण पखारे, बैठाया और आग्रह किया, ''भगवन्! सेवा'' सन्त ने कहा, ''राजन्! केवल भिक्षा! किन्तु पहले भिक्षा हमारा शेर ग्रहण करेगा।

राजा ने कहा, ''जो आज्ञा भगवन्! वधशाला से मांस आ जायेगा।'' उन महात्मा ने कहा, ''नहीं, वधशाला का मांस हमारा शेर नहीं खाता। तुम कोई अपनी वस्तु दो। राजा ने कहा, ''मैं अपना शिर देने को प्रस्तुत हूँ।''

महात्मा वेषधारी भगवान ने कहा, ''तुम जीवित रहो.....और किसी को दे दो। अपने पुत्र को दे दो।'' मोरध्वज ने कहा, ''पुत्र पर आधा अधिकार हमारा है, हमने अपना हिस्सा अर्पण किया, आधा महारानी साहिबा का है।'' महारानी ने कहा, ''जब आपने दे दिया तो मैंने भी दे दिया।'' उन महात्मा ने कहा, ''राजकुमार का वध कौन करेगा? आपलोग ही इसे मारें। एक बात और, मेरा शेर दाहिने अंग का मांस खाता है इसलिए आपलोग इसे आरे से चीरिए।''

राजदम्पत्ति आरा लेकर खड़े हुए। माँ का हृदय तो बच्चों में बसा रहता है। महारानी की आँखों में अश्रु छलक आये। भगवान ने कहा, ''यह रो-धोकर दी हुई भिक्षा हमारा शेर नहीं करेगा।'' महारानी ने कहा, ''भगवन्! पुत्र तो जा ही रहा है, धर्म भी जाना चाहता है। ऐसी कृपा करें कि मेरे आँसू जमीन पर न टपकने पायें।'' अश्रु रुक गये। बालक का दाहिना अंग शेर को दे दिया, वामांग महल के भीतर रखवा दिया। दोनों महात्माओं का भोजन आया तो उन्होंने कहा, ''राजन्! पुत्र के लिये भी भोजन परोसो।'' एक थाली उसके लिये भी आ गयी। उन्होंने आनाकानी नहीं की कि अभी तो आधा काटकर शेर को खिला दिया, किसके लिए थाल लगाऊँ? महात्मा ने कहा, ''नाम लेकर पुत्र को बुलाओ।'' महारानी ने बुलाया तो बालक भीतर से दौड़ता हुआ आ गया और उन महात्माओं के साथ भोजन करने लगा।

श्रीकृष्ण तो भोजन करने लगे किन्तु अर्जुन का हाथ जहाँ का तहाँ रुका ही रह गया। वह बोला, ''भगवन्! जब इतनी क्षमता आप में है कि आधा अंग शेर खा गया, फिर भी आपने इसे जीवित कर दिया तब आपने हमारे अभिमन्यु को क्यों नहीं जिलाया?'' भगवान बोले, ''अर्जुन! तुमने हमारी सुनी कब थी? हमने कहा था, अर्जुन! विचार तो कर लो, इससे भी अच्छा परिणाम निकल सकता है; लेकिन तू कह रहा था– नहीं केशव! प्रण पूरा होना चाहिए, अब तो मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ।'' अर्जुन ने कहा, ''प्रभो! मुझसे महान भूल हो गयी। क्या अब भी कोई उपाय है?'' भगवान ने कहा, ''अर्जुन! समय बहुत व्यतीत हो गया है, अब वह जीवित तो नहीं हो सकता। हाँ, तुम उसे देख अवश्य सकते हो।'' अर्जुन ने कहा, ''केशव! प्रिय अभिमन्यु को दिखा ही दीजिए।''

मोरध्वज से विदा लेकर भगवान अर्जुन को एक रथ में बिठाकर दिव्य वायुमण्डल से गुजरते हुए वहाँ ले गये जहाँ एक भव्य आसन पर अभिमन्यु विराजमान था। पुत्र को देखते ही अर्जुन रथ से कूद पड़ा, भगवान से अनुमति भी नहीं ली और 'प्रिय अभिमन्यु', 'प्रिय पुत्र' कहता लगा दौड़ लगाने! अभिमन्यु ने शिर उठाकर देखा तो बोला, ''भगवान के धाम में भी पिता-पुत्र! कौन हो तुम?''

अर्जुन ने सोचा– सात-सात महारथियों ने इसके शिर पर एक साथ प्रहार किया था। प्रतीत होता है इसकी स्मृति लुप्त हो गयी है। इसकी माँ का नाम लें तो अभी सब कुछ याद आ जायेगा। उसने पुकारा, ''सुभद्रापुत्र अभिमन्यु!'' अभिमन्यु बोला, ''न मैं सुभद्रापुत्र हूँ और न ही तुम्हारा बेटा हूँ। सात बार मैं पिता और तुम पुत्र हुए। केवल एक बार तुम पिता और मैं पुत्र हुआ। आठ जन्मों से हमारे बदले चले आ रहे हैं। इन भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से मैं अपना स्वरूप, अपना धाम प्राप्त कर सका हूँ। तुम भी इनकी शरण जाओ, अन्यथा हजारों जन्मों तक 'हाय बेटा', 'हाय बेटा' कहकर बिलखते ही रहोगे।'' उस दिन से अर्जुन का मोह छूटा। फिर तो अर्जुन ने इतना चिन्तन किया कि वह सो भी जाता तो उसके रोम-रोम से ओम्-ओम् की ध्वनि प्रवाहित होती थी। यह गुण या तो हनुमानजी में था (हनुमानजी के भी रोम-रोम से राम-राम की ध्वनि प्रवाहित होती थी) या फिर अर्जुन में यह गुण आया।

सारांशतः पुत्रमोह अन्तिम क्षणों तक पीछा करता है। अभिमन्यु यदि बदला चुका रहा था तो हमारा भी संसार में है ही क्या? संसार में जीव किसी का पिता तो किसी का पुत्र या सम्बन्धी बनकर अपना बदला ही चुकाता है। जिस क्षण एक बदला पूर्ण होता है, दूसरे ही क्षण अन्य बदलों की ओर जीव की यात्रा बढ़ जाती है। इस अंतहीन यात्रा को विराम देनेवाला साधन है प्रभु का नाम। इसीलिए इन महापुरुष का कहना है–

राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।

मेरे भाई! अभी से राम कहते चलो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो,

नाहिं त भव बेगारि महँ परिहै, छूटत अति कठिनाई रे।

अन्यथा आवागमन की बेगार में पड़ जाओगे जिससे छूट पाना अत्यन्त कठिन है। बेगार वह श्रम है जिसे विवशता में करना पड़ता है। इसमें श्रमिक अपना खाता-पीता है, श्रम दूसरों के लिए करता है जिसका कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता। राजा या जमींदार की बेगार दो-चार दिनों की होती रहती है। बेगार करनेवाला कुछ दिनों बाद पुनः स्वतन्त्र रहता है किन्तु संसार के सम्बन्धों का बेगार जन्म-जन्मान्तरों तक चलता ही रहता है, आपस के बदले चलते ही रहते हैं।

एक महात्मा रामेश्वरम जा रहे थे। रास्तें में उन्हें छः डाकुओं ने घेर लिया। महात्मा ने कहा, ''मेरे पास जो कुछ है, सब ले लो लेकिन मुझे रामेश्वरम जाने दो। लौटकर आने पर भी हमारे पास जो कुछ रहेगा, वह सब ले लेना।'' डाकुओं ने कहा, ''नहीं महाराज! हमलोग आपका वध करेंगे, तभी लेंगे।'' महात्मा ने कहा, ''मेरा वध करने से तुम्हें क्या मिलेगा?'' दस्युओं ने कहा, ''हमलोगों का नियम है कि अपने शिकार को काटे बिना उसकी सम्पत्ति नहीं लूटते।'' महात्मा ने कहा, ''ठीक है, हमें आधा घण्टा भजन कर लेने दो, फिर काट डालना।''

वह महात्मा भजन में बैठ गये। उन्होंने भगवान से पूछा, ''प्रभो! जब मैं सब कुछ दे रहा हूँ फिर ये मुझे क्यों काटना चाहते हैं?'' भगवान ने कहा, ''बेटा! पिछले जन्म में तुमने इन छहों को काटा था। यदि तू इस जन्म में भजन न करता तो तुम्हें छः बार जन्म लेना पड़ता और यह लोग छः बार तुम्हें काटते। यह भजन का ही प्रभाव है कि सब साथ होकर एक ही स्थान पर आ गये, एक बार तुम्हें काटेंगे, फिर छहों बार के बदले समाप्त हो जायेंगे। पुनः जब तुम जन्म लोगे, ठाट से भजन करना।'' महात्मा बहुत प्रसन्न हुए। भजन से निवृत्त होकर उन्होंने डाकुओं से कहा, ''चलो, अब मैं तैयार हूँ। आपलोग शीघ्रता करें।''

दस्युओं ने कहा, ''महाराज बात क्या है? पहले तो आप इतने उदास थे, अब इतना प्रसन्न क्यों हैं?'' महात्मा ने कहा, ''इसे जानकर तुमलोग क्या करोगे? इसे तुमलोग समझ भी नहीं सकोगे। चलो, जल्दी करो। उठाओ

खड्ग।'' डाकुओं ने कहा, ''महाराज! जब तक आप बतायेंगे नहीं तब तक हम काटेंगे ही नहीं, न आपको जाने देंगे चाहे महीना ही क्यों न बीत जाय।'' महात्मा ने कहा, ''आप अपना काम करो।'' दस्युओं ने कहा, ''चाहे बरस बीत जाय, जब तक आप बतायेंगे नहीं, तब तक हम नहीं काटेंगे और न जाने ही देंगे।''

महात्मा ने बताया, ''बेटा! भगवान से हमने यही पूछा था कि जब मैं इन्हें सब कुछ दे रहा हूँ तो ये हमें काटना क्यों चाहते हैं? इस पर भगवान ने कहा कि पिछले जन्म में मैंने तुम सबको काटा था। मैं छः बार जन्म लेता और तुम बारी-बारी से छः बार मुझे काटते तब वह बदला पूरा होता। किन्तु राम-नाम के प्रभाव से तुम सब आज एकत्र हो गये हो। अब हमें एक बार कटना पड़ेगा, हमारा बदला समाप्त हो जायेगा।''

दस्युओं ने कहा, ''जब यह बदला ही है और जब तक संस्कार समाप्त नहीं होते, बदले किसी न किसी रूप में चलते ही रहेंगे तो हमलोग आपको नहीं काटेंगे। आप हमें भी वह युक्ति बताने की कृपा करें जिससे हमारे संस्कार समाप्त हों। जंगल में भटककर हमलोगों ने बहुत सारे संस्कार अर्जित किये हैं। कृपया हमें भी उनसे निवृत्ति दिलायें। हमें अपना शिष्य बना लें।'' वे सभी सन्त हो गये।

सारांशतः संसार में जो कुछ है, बेगार है। घोर परिश्रम से अर्जित की हुई मान-प्रतिष्ठा-वैभव सब यहीं छूट जाता है। इस व्यवस्था को कोई मरने के बाद देखने भी नहीं आता,

कबिरा अपनी नौबत दिन दस लेहु बजाइ।
सोइ पुर पाटन सो गली बहुरि न देखा आइ॥

लौटकर कोई नहीं देखता। अगले जन्मों में दूसरे ही माता-पिता, दूसरे ही पुत्र-सम्बन्धी, अलग इज्जत, अलग ही रहन-सहन– सब कुछ बदल जाता है। यहाँ की बेगार करते ही रहेंगे– **'नाहिं तौ भव बेगारि महँ परिहै, छूटत अति कठिनाई रे।'** अग्रेतर पंक्तियों में बताते हैं कि शरीर है क्या?

बाँस पुरान साज सब अठकठ, सरल तिकोन खटोला रे।

यह शरीर सीधा तिकोन खटोले जैसा है। पाँव के दो कोने और बीच में शिर! एक तिकोना खटोला (तीन गुणों से संचालित शरीर) है। बड़ी पुरानी बाँस-बल्लियाँ इसमें लगी हैं। जन्म-जन्मान्तरों के पुराने संस्कार इकट्ठे होकर, सब सिमटकर इस शरीर का निर्माण करते हैं। इसके सभी साज अंट-संट, अव्यवस्थित, बेतरतीब, कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा जैसे है। इसे कभी भोग प्यारा लगता है तो कभी योग रुचिकर लगता है। कभी यह लोभ-मोह-राग-द्वेष-काम-क्रोध में बहकने लगता है तो कभी यह धारणा-ध्यान-श्रद्धा-समर्पण और चिन्तन में चलने लगता है। जब जैसे संस्कार उदित होते हैं, व्यक्ति वैसा ही आचरण कर बैठता है। ऐसा शरीर क्यों मिला?

हमहिं दिहल करि कुटिल करमचँद मंद मोल बिनु डोला रे।

हमारे ही किये हुए किसी जन्म के कुटिल कर्म हमें बार-बार संसार में डालते हैं। इसका प्रारब्ध अत्यन्त मंद है। तामस प्रधान शरीर होने से बुरे कर्म स्वभावतः होते हैं। यह **'मोल बिनु'**– किसी मूल्य का नहीं है। कोई आदमी काम का नहीं होता है तो लोग कहते हैं, यह दो कौड़ी का भी नहीं है। यह इतना क्षणभंगुर, नश्वर कि साधारण-सी ठोकर से समाप्त। यह बिना मोल का डोल रहा है। इस शरीर की चाल कैसी है?

विषम कहार मार मद माते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।

शरीर एक खटोला, एक पालकी! इसको ले चलनेवाले कहार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनकी जोड़ी नहीं है, विषम हैं। ये एक दिशा में नहीं चलते, अपने-अपने विषयों की ओर भागते हैं। कभी इनकी सजातीय प्रवृत्ति है तो कभी विजातीय। समभाव से ये चल ही नहीं सकते। आँख दृश्य देखना चाहती है, कान मधुर शब्द सुनना चाहते हैं, त्वचा अनुकूल स्पर्श तो रसना अनुकूल भोजन चाहती है। **'न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पाचों अधिक सवादी।'** इनको अपने-अपने स्वाद का भोजन चाहिए। ये जैसी भावना देते हैं, शरीर को वैसा ही जाना पड़ता है। ये कहार काम के मद में मतवाले हैं, विषय-भोगों के पीछे मतवाले हो रहे हैं। ये **'चलहिं न पाउँ बटोरा रे'**। कहार कदम से कदम मिलाकर एक दिशा में बढ़ते हैं किन्तु इन्द्रियरूपी कहार अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ते हैं। जिससे,

मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे।

ये विषम कहार कभी 'मंद' अर्थात् नीचे, कभी 'बिलंद' अर्थात् ऊँचे चलते हैं जिससे 'अभेरा' अर्थात् धक्का और 'दलकन' अर्थात् झटका लग रहा है। इस खींचतान में जीव को बड़ा दुःख हो रहा है। कभी सन्तों में श्रद्धा तो कभी अश्रद्धा जीव को झकझोर कर रख देती है। इन्द्रियों और मन की वृत्ति एक दिशा और दशा में, एक धारा में नहीं है। सांसारिक विषय-भोगों की मृगतृष्णा में कदम-कदम पर कठिनाइयाँ हैं।

काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाउँ बझाऊ रे।

विषय-भोगों के मार्ग में काँटे बिछे हैं, सुख के साथ दुःख लगा है, कुराय अर्थात् कंकड़ पड़े हैं। सुख के प्रलोभन में कोई काँटा, कहीं कंकड़ चुभ जाता है, व्यक्ति अपना कदम पीछे खींच लेता है। इसमें सांसारिक सम्बन्धों के मोह और ममता की बेल व्यक्ति को लपेट लेती है। 'लोटन'– रेंगनेवाले सर्प इत्यादि जीव-जन्तु कामना, तृष्णा और चिन्ता उत्पन्न करके पथिक को उलझा देते हैं। इतना ही नहीं,

जस जस चलिअ दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे।

इस भव-बेगार में जैसे-जैसे व्यक्ति आगे बढ़ता है, रास्ता और भी लम्बा होता जाता है, अपना घर दूर होता चला जाता है। **'न भेंट लगाऊ रे'**– अपने घर से भेंट करानेवाला, परमात्म-पथ को बतानेवाला भी नहीं है। संसार के लोग तो विषयासक्ति में ही अनुरक्त हैं, वही बताते हैं।

मारग अगम संग नहिं संबल नाउँ गाउँ कर भूला रे।

अपने धाम का मार्ग अगम है। विषयों के झाड़-झंखाड़ **'गृह कारज नाना जंजाला'**– ऐसे दुर्गम पहाड़ और जंगल से भरा है; मन, बुद्धि के बल पर इस रास्ते पर चला नहीं जाता, मन और बुद्धि का निरोध करते हुए ही इस राह पर बढ़ा जा सकता है; क्योंकि वह परमात्मा अचिन्त्य है, अगोचर है। **'संग नहिं सम्बल'**– साथ में कोई सहारा देनेवाला भी नहीं है, न पुण्य पुरुषार्थ, न मार्गदर्शक सद्गुरु जो ''लाद दे लदाय दे और साथ चले, यदि गठरिया गिर जाई तो कौन लदायेगा?''–जैसा पूज्य गुरुदेव कहा करते थे।

'नाउँ गाउँ कर भूला रे'– माया-मोह में भूले जीव को अपने गन्तव्य गाँव का नाम भी भूल गया है कि उसे जाना कहाँ है, पहुँचना कहाँ है? तुलसीदासजी अंत में भगवान से प्रार्थना करते हैं–

तुलसिदास भव त्रास हरहु अब होउ राम अनुकूला रे।

प्रभो! अपने बल पर तो हम चल चुके। हे भगवन्! **'भव त्रास हरहु'**– आवागमन की विपदा हर लीजिए और **'होउ राम अनुकूला रे'**– आप अनुकूल हो जायँ। जब प्रभु अनुकूल हो जाते हैं तो,

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई।।

(रामचरितमानस, 5/4/2)

गरल अर्थात् विष अमृत में परिवर्तित हो जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं, अथाह भवसागर गाय के खुर रखने से बने गड्ढे में भरे हुए जल जितना रह जाता है। कब?

गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही।।

(रामचरितमानस, 5/4/3)

गरुड़जी! जब भगवान कृपा करके देख लेते हैं तो यदि किसी के शिर पर पहाड़ गिरनेवाला है तो वह रजकण जितना स्वल्प होकर निकल जायेगा। वह पहाड़ शिर पर आयेगा अवश्य; वह किसी ने फेंका नहीं है बल्कि वह किसी जन्म की हमारी ही कमाई है जो पहाड़ बनकर हमारे ऊपर गिरने आ रहा है किन्तु वह भारहीन होकर निकल जायेगा। कब? जब प्रभु की सीधी अनुकम्पा हो जाती है। ईश्वर-पथ में यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि की लम्बी-चौड़ी साधनायें हैं किन्तु सर्वोपरि साधना और साधना का आरम्भ नाम से है। यह नाम भी अंत में लक्ष्य का दर्शन कराकर ही शान्त होता है, अन्त तक साथ देता है। इसलिए नाम का जप अनिवार्य है। खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते नाम याद आया करे तो सोने में सुहागा है।

एक सेठजी थे। नाम जपने में उनका इतना मन लग गया कि दुकान-दौरी सब चौपट हो गयी। घरवाले लगे झाँव-साँव करने। सेठानी कहती– क्या

बताऊँ बहनजी! हमारे सेठजी की तो बुद्धि ही भ्रष्ट हो गयी। जब देखो तब माला टालते रहते हैं। सेठ ने गुरु महाराज से पूछा– प्रभो! घरवालों ने तो जीना मुश्किल कर दिया है। कोई उपाय बतायें। गुरु महाराज ने कहा– घरवालों को दिखाने के लिए कहीं छोटी-मोटी दुकान खोल लो। सेठ ने एक ऐसी गली में दुकान खोली जिसमें लोगों का आना-जाना बहुत कम होता था। सेठ ने सोचा, इस गली में कोई आयेगा नहीं, हम शान्ति से बैठकर भजन करेंगे और घरवाले भी समझेंगे कि आखिर सेठ कुछ तो कर रहे हैं।

भगवान का मन! उस क्षेत्र में जितने भी ग्राहक थे, उसी दुकान पर आने लगे। लोगों में एक धारणा घर कर गयी कि चाहे पाँच साल का बच्चा सामान ले आये सेठ कम नहीं तौलते, अधिक पैसा नहीं लेते। भले ही कोई भूल जाय, सेठ उसका अनुचित लाभ नहीं लेते और सामान भी सबसे अच्छा देते हैं। जनमानस में उनकी एक साख जम गयी। दिनभर तौलते-तौलते सेठ परेशान हो जाया करते कि भगवन्! यह किस जन्म का पाप प्रकट हो गया है जिससे आपका पवित्र नाम छूट जाना चाहता है।

रात को दुकान बन्द कर सेठ लोटा लेकर नित्यक्रिया से निवृत्त होने नाले की ओर निकल जाते। नाले में बैठकर वह शौच करते और उसी समय राम-राम-राम-राम जपना आरम्भ करते। ऐसा करने में रात्रि के बारह बज जाते। दिनभर की छटपटाहट कि नाम नहीं जप पा रहे हैं, जब शान्त होती तो कभी-कभी रात्रि के एक भी बज जाते थे। जब दिनभर का जप पूरा होता, मन को सन्तोष हो जाता तब वह घर आते और रूखा-सूखा जो भी उनके लिये ढँककर रखा रहता, उसी को खाकर बड़े सबेरे पुनः अपने काम पर चले जाया करते थे। उनका यह अभ्यास दीर्घकाल से चल रहा था। सेठजी की साधना उन्नत हो चली थी।

एक बार नाम जपते सेठ पर हनुमानजी की दृष्टि पड़ गयी। उन्होंने सोचा– यह बनिया बक्काल की जात! हमारे प्रभु के पवित्र नाम को भी भ्रष्ट करने में लगा है। दिन के पूरे चौबीस घण्टे पड़े हैं। भला टट्टी फिरते समय ही इसको नाम जपना था। ऐं.....इसे थोड़ी नसीहत दे दूँ। उन्होंने उसकी पीठ

पर एक लात मारी। केवल इतना ही बल लगाया कि यह मुँह के बल गिर जाय, बहुत हो तो इसके दो-चार दाँत टूट जायँ। लेकिन बनिया टस से मस नहीं हुआ। वह उसी तरह शान्त बैठकर राम-राम जपता रहा।

हनुमानजी को रोष आ गया कि हमारी लात लगी और यह हिला तक नहीं! तब उन्होंने दुपट्टा फेंका, लगाया दण्ड-बैठक, शरीर को विशाल बनाया और उछलकर वह लात मारी जिसका प्रहार कभी मेघनाद और कुम्भकर्ण की छाती पर किया था। फिर भी वह बनिया टस से मस नहीं हुआ और शान्ति से राम-राम जपने में लगा ही रह गया।

'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'– तुरन्त हनुमान में प्रेरणा हुई कि अरे! हमने किस कुपात्र को छू दिया। लो, हम भी अशुद्ध हो गये। अब तो भगवान की सेवा में पहुँचने में भी देर हो जाना चाहता है। हनुमान ऐसे सेवक थे जिन्हें सेवा में कभी देर हुई ही नहीं। अर्द्धरात्रि को आदेश मिला कि सूर्योदय से पहले संजीवनी चाहिए तो उससे पहले ही ले आये। उन्होंने तुरन्त दौड़कर सरयू में एक डुबकी लगायी, पवित्र हुए और भगवान की सेवा में जा पहुँचे।

किन्तु आज तो वहाँ का वातावरण ही कुछ और था। पूरा महल झनझना रहा था, रामजी आह-आह कराह रहे थे। राजवैद्य उपचार में लगे थे। हनुमान ने कहा, ''प्रभो! ऐसा कौन-सा रोग हो गया?'' भगवान ने कहा, ''हनुमान! पूछो मत, आज हम लात ही लात बहुत मारे गये हैं।'' हनुमान तुरन्त आवेश में आ गये, ''प्रभो! सृष्टि में ऐसा कौन जीवित है जो आपकी ओर लात उठाये? आप बता भर दें, मैं अभी उसका सफाया किये देता हूँ।'' भगवान ने कहा, ''अरे हनुमानजी, आपने ही तो मारा था।'' हनुमान बोले, ''प्रभो! सेवक से इतनी बड़ी भूल कैसे हो सकती है? रामजी बोले, ''क्या उस बनिये को नहीं मारा था?'' हनुमान चकित हो बोले, ''लेकिन प्रभो! वह आपको कैसे लग गयी?'' भगवान बोले, ''देख हनुमान!

जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

(रामचरितमानस, 5/47/4-5)

जननी माने माता, जनक माने पिता, बंधु, सुत, प्रिय परिवार, परम हितैषी, इज्जत-प्रतिष्ठा– इन सबमें ममत्व के जो धागे लगे हुए हैं, उन धागों को समेटकर सबकी एक रस्सी बनाकर अपने मन को जो मेरे चरणों में बाँध देता है–

अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे।।

(रामचरितमानस, 5/47/7)

ऐसा सज्जन मेरे हृदय में उसी प्रकार निवास करता है जैसे लोभी के हृदय में धन निवास करता है। हनुमानजी! वह ममत्व के धागों को समेटकर मन को मेरे चरणों में बाँधकर बैठा था। वह मेरे हृदय में था। उसके कवच के रूप में मैं था। आपने जमकर जितने प्रहार किये, वे मुझको ही झेलने पड़े। हमारी तो कमर टूट गयी और कहते हो किसने मारा?''

हनुमान भागकर सेठ के पास गये और बोले, ''सेठ! तुम धन्य हो, तुम भाग्यवान हो।'' सेठ का ध्यान टूटा। उसने देखा, हनुमानजी सामने खड़े हैं। वह तुरन्त उनके चरणों में साष्टांग लेट गया और कहा, ''प्रभो! आप कब आये?'' हनुमान बोले, ''अभी लात ही लात मारकर गये थे, नहीं देखा?'' सेठ ने कहा, ''नहीं भगवन्! आप आते और मैं आपको दण्डवत न करता, भला ऐसी भूल मुझसे क्यों होती! क्षमा करे प्रभु! हमें पता ही नहीं चला।'' इस प्रकार एक सीमा तक भजन करके भगवान को हृदय में बैठाना होता है। एक निश्चित दूरी तय कर लेने पर भगवान स्वयं कवच बनकर आपकी सुरक्षा में लग जाते हैं–

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।

(रामचरितमानस, 3/42/3)

इसलिए नाम-जप के द्वारा मन को प्रभु के चरणों में लगायें। एक बात स्मरण रखें कि नाम जपने के लिए कोई जगह अपवित्र नहीं होती। कितना ही फूल बिछा लें, इत्र छिड़क लें, यदि हृदय में श्रद्धा नहीं, कण्ठ पर नाम नहीं तो वह जगह अपवित्र है इसलिए सबको नाम जपना चाहिए।

भगवान दो-चार नहीं होते। जो अनन्त अवतार हुए हैं, महापुरुषों के हैं। उन्होंने हृदय-देश में उस परमतत्त्व को विदित किया था, दर्शन-स्पर्श और प्रवेश पाया था, स्थिति पायी थी। वह नारायणस्वरूप थे, सद्‌गुरु थे। सृष्टि में अनेकानेक मन्दिर पाये जाते हैं। इन्होंने प्रायः भ्रान्तियों को ही जन्म दिया है कि हमारे भगवान श्रीकृष्ण, आपके भगवान श्रीराम या उनका भगवान शिव! अलग से भगवान का कोई मंदिर नहीं होता। ये सभी स्थलियाँ भगवत्‌स्वरूप प्राप्त सद्‌गुरुओं की हैं।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में बताया कि आत्मा ही सत्य है, अजर-अमर-शाश्वत और सनातन है। इन विभूतियों से युक्त आत्मा को तत्त्वदर्शियों ने जाना। न दस भाषा के विद्वान ने जाना, न ही किसी समृद्धिशाली ने जाना, न किसी राजा या चक्रवर्ती सम्राट ने ही जाना। उसे केवल तत्त्वदर्शियों ने जाना। अब एक नवीन प्रश्न सामने आ गया कि तत्त्वदर्शिता क्या है? अध्याय अठारह में भगवान ने बताया कि तत्त्व की चाहवाले पुरुष को चाहिए कि एकान्त देश का सेवन करे, गीतोक्त योगविधि को हृदय में धारण कर चित्त को ध्यान में लगाये। इसके सतत अभ्यास से काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष ये विकार सर्वथा शान्त हो जाते हैं; धारणा, ध्यान और समाधि ये परिपक्व हो जाते हैं, उस समय वह पुरुष ब्रह्म को जानने के योग्य होता है। इसी योग्यता का नाम पराभक्ति है, भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर है, भक्ति अपना परिणाम देने की स्थिति में है। इस पराभक्ति के द्वारा वह 'तत्त्व' को जानता है। ठीक है वह तत्त्व को जानता है लेकिन वह तत्त्व है क्या? भगवान बताते हैं– मैं जो हूँ, जिन विभूतियों से युक्त हूँ, इसे जानता है कि तत्त्व या भगवान अजर-अमर हैं, मैं अजर-अमर हूँ। वह परमात्मा जिस प्रकार शाश्वत है, कण-कण में व्याप्त है, ज्योतिर्मय, काल से अतीत, अपरिवर्तनशील इत्यादि जिन अलौकिक गुणधर्मोंवाला मैं हूँ, इसे जानता है और इसे जानकर वह तत्क्षण मुझमें ही स्थित हो जाता है। प्राप्तिकाल में भगवान दिखायी पड़ते हैं; किन्तु दूसरे ही क्षण वह महापुरुष अपनी आत्मा को भी उन्हीं ईश्वरीय गुणधर्मों से परिपूर्ण पाता है। यही है द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति! यही है निज धाम।

इसलिए जो यह स्थिति पा गया, वह महापुरुष है, सद्गुरु है, नारायणस्वरूप है। यदि कल प्राप्ति हो जायेगी तो आज अभी वह जीव है, साधक है, पथिक है। मन्दिर और मूर्तियों द्वारा इन्हीं महापुरुषों की स्मृति सँजोयी जाती है कि कैसे उन्होंने उस परमात्मा को प्राप्त किया। वे हमारे आदर्श हैं, प्रेरणास्रोत हैं कि हम भी उन्हीं की तरह भजन करें। बिना भजन किये अपने को तत्त्वदर्शी कहने से कुछ भी नहीं मिलेगा।

पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे– बेटा! संसार तुम्हें साधू कहे, इससे तुम्हें कुछ भी नहीं मिलेगा, रोने को आँसू नहीं पाओगे; किन्तु यदि भगवान तुम्हें साधु कह दें, तुम सब कुछ पा जाओगे, दुनिया कहे चाहे न कहे। यह प्रमाणपत्र आश्रम या मन्दिर बनाने से नहीं मिलेगा। यह कपड़ा रँगने या साइनबोर्ड लगाने से भी नहीं मिलेगा। आजकल सन्तों की उपाधियाँ विलक्षण होने लगी हैं; कोई-कोई तो श्री श्री और कई हजार श्री तो कोई नारायणस्वरूप और पता नहीं क्या-क्या विशेषण लगा लेते हैं। कितना भी लगा लें, यदि साधना नहीं है, कुछ भी नहीं मिलेगा। तुम्हारी आत्मा तुम्हें साधु कह दे तभी आश्वस्त हुआ जा सकता है।

अवतारस्वरूप जितने भी महापुरुष हुए हैं जब कभी किसी ने परमात्मा को पाया है तो हृदय-देश में पाया है और वह परमात्मा साधना के परिणाम में सबको सुलभ है। साधना के नाम पर लम्बी-चौड़ी, तरह-तरह की साधनायें सीखने की जरूरत नहीं है। केवल एक साधना सीख लें, सोते-जागते, चलते-फिरते, भला करते, बुरा करते– हर समय श्रद्धापूरित हृदय से समर्पण के साथ दो-ढाई अक्षर के किसी भगवन्नाम 'ॐ' या 'राम' – एक नाम का जप चलता रहे। यही गोस्वामीजी भी कह रहे हैं कि **'राम कहत चलु भाई रे'** अन्यथा भव बेगार में पकड़ लिये जाओगे, दिन-रात श्रम करोगे, पारिश्रमिक मिलना नहीं है और **'छूटत अति कठिनाई रे'**। छूटने का एक ही तरीका है– भगवान का अनुकूल होना। वह प्रेम के भूखे हैं। आप श्रद्धा से लग भर जायँ, वह तुरन्त मिल जायेंगे।

॥ बोलिये श्रीगुरुदेव भगवान की जय ॥

सद्‌गुरु की हाट अलग लागी

सद्‌गुरु की हाट अलग लागी।
वस्तु अमोल खोल गुरु बैठे, लेवेगा कोई बड़भागी।
सद्‌गुरु की........
आये व्यापारी सौदा करि गये, जनम जनम के अनुरागी।
सद्‌गुरु की........
पड़ा रहे मैदान गढ़ी में, सकल कामना जिन त्यागी।
सद्‌गुरु की........
कहे कबीर सुनो भाई सन्तो! भगति भीख उनसे मागी।
सद्‌गुरु की........

आरम्भ में भगवान राम जब तक अयोध्या में थे, एक भी महात्मा से भेंट नहीं हुई। एक महात्मा विश्वामित्र से उनका सम्पर्क अवश्य हुआ था किन्तु वह भी सिद्धाश्रम से, भयंकर ताड़का वन से अयोध्या पहुँचे थे और कुछ काल पश्चात् वहीं लौट गये; क्योंकि सन्तलोग एकान्त में रहते हैं। किन्तु वनवास के आरम्भ में ही प्रयागराज में रामजी को महर्षि भरद्वाज के दर्शन हुए। भरद्वाज ऋषि ने रामजी को विदा करते हुए कहा– राम! इस पगडण्डी से चले जाओ, आगे यमुना नदी मिलेगी। यमुना के पास तमाम सूखी लकड़ियाँ गिरी पड़ी हैं। बहुतायत बाँस हैं। उन्हें लताओं से बाँधकर बेड़ा बना लेना। पहले सीताजी को उस पर बैठाना, सामान रख लेना और दोनों भाई डाँड़ चलाते हुए उस पार चले जाना। उस पार एक श्यामवट है। बहुत से महात्मा वहाँ तपस्या करते हैं, बड़ी पवित्र जगह है। सीता दोनों हाथ जोड़कर उस वृक्ष से आशीर्वाद की याचना करें। वहीं से जंगलों के बीच से चित्रकूट जाने का मार्ग है।

विचारणीय है कि जिस इलाहाबाद में आदमी आज चींटियों की तरह भरे पड़े हैं, वहाँ उन दिनों भयंकर जंगल था। यमुना के किनारे तमाम सूखी लकड़ियाँ पड़ी थीं, घनघोर जंगल था। वन-प्रवेश के साथ ही भरद्वाज मुनि

मिले। वहाँ से आगे जाने पर वन में ही महर्षि बाल्मीकि, महर्षि अत्रि, महासती अनुसुइया, अनेकानेक ऋषियों के आश्रम! इसके पश्चात् मिल गये शरभंग, सुतीक्ष्ण, तपोधन अगस्त्य, शबरी, मतंग इत्यादि। महात्माओं की कतार लग गयी। उस एकान्त में साधन-भजन की दृष्टि से वे सब परम सुखी थे किन्तु निशाचरों का उत्पात उनके पीछे भी कम नहीं था। असुर लोग जिसे भी साधना से लापरवाह पाते, उसे खा लिया करते थे। हाँ, अगस्त्य, अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण इत्यादि ऐसी विभूतियाँ थीं जिन पर इन निशाचरों का प्रभाव काम नहीं करता था। ये सन्त परम विवेकी थे, योगेश्वर थे, सद्‌गुरु थे। इनकी हाट सांसारिक बस्तियों से अलग-थलग शान्त-एकान्त में लगी हुई थी। इसी प्रकार कागभुशुण्डि भी गुरु की खोज में जंगल की ही ओर गये–

जहँ जहँ बिपिन मुनीस्वर पावउँ। आश्रम जाइ जाइ सिरु नावउँ।।

(रामचरितमानस, 7/109/10)

आज खोजना हो तो आपको काशी में ही दसियों हजार मुनीश्वर मिल जायेंगे। प्रयाग में भी मिल जायेंगे। हर गाँव में महात्मा लोगों की कुटिया है लेकिन कागभुशुण्डि वहाँ नहीं गये। उन्होंने विपिन में मुनियों का दर्शन किया, उन्हें सादर प्रणाम किया।

बूझउँ तिन्हहि राम गुन गाहा। कहहिं सुनउँ हरषित खगनाहा।।

(रामचरितमानस, 7/109/11)

हे गरुड़जी! मैं उनसे राम का गुणगान पूछता था। वे सप्रेम मुझसे कहते थे और मैं प्रसन्नतापूर्वक उसे सुनता भी था लेकिन सन्तोष कहीं नहीं मिला। शनैः-शनैः घूमते हुए वह लोमश ऋषि के पास पहुँचे–

मेरु सिखर बट छायाँ मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिर नायउँ बचन कहेउँ अति दीन।।

(रामचरितमानस, 7/110 ख)

सत्संग में कुछ उत्तर-प्रत्युत्तर के पश्चात् मुनि को क्रोध हो आया। उन्होंने मुझे श्राप दे दिया किन्तु फिर भी मेरी विनम्रता और ईश्वर के प्रति जिज्ञासा

देख उन्हें विश्वास हो गया कि यह अधिकारी है, तो '**हरषित राम मन्त्र तब दीन्हा।**'– इसके साथ ही '**बालक रूप राम कर ध्याना।**'– ध्यान बताया और,

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाषा।।

(रामचरितमानस, 7/112/9)

मुझे रामचरितमानस सुनाया। पहले दिया मंत्र अर्थात् नाम, दूसरा बताया ध्यान अर्थात् रूप, और तीसरा दिया रामचरितमानस अर्थात् ब्रह्मविद्या (सभी महापुरुषों का तरीका एक, सभी का उपदेश एक, ठीक यही तीनों साधन गुरु महाराज से हमें भी मिला)। तीनों प्रदान करने के पश्चात् महर्षि लोमश अन्त में बोले– '**रामचरित सर गुप्त सुहावा।**'– यह रामचरित अत्यन्त गोपनीय है, इसे संसार में कोई नहीं जानता। क्यों? इतनी बड़ी घटना हुई, रावण मरा, इसे पूरे संसार ने जाना, लोगों ने दीप जलाये, खुशियाँ मनायी, और इसी क्रम में,

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गये सब सोका।।

(रामचरितमानस, 7/19/7)

राम का राज्याभिषेक होते ही तीनों लोकों का शोक समाप्त हो गया, खुशी की लहर दौड़ गयी। यह तो प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। सारे संसार में रामकथा प्रचलित है। सभी इसे जानते थे; किन्तु महर्षि कहते हैं– यह गुप्त है, इसे कोई नहीं जानता। ऐसा कहने में उनका आशय क्या है?

वस्तुतः शास्त्र दो दृष्टियों से लिखा जाता है। पहला उद्देश्य रहता है इतिहास को जीवन्त रखना जिससे लोग पूर्वजों के पदचिह्नों पर चल सकें, मर्यादित जीवन जी सकें; किन्तु कुशलतापूर्वक जी-खा लेने से, आयु के दिन पूरे कर लेने मात्र से जीव का कल्याण संभव नहीं है। इसीलिए शास्त्र लिखने का दूसरा लक्ष्य रहता है कि उस महान घटना के माध्यम से अध्यात्म की शिक्षा प्रदान करना। संसार का हर जीव माया के आधिपत्य में है। माया जैसा चाहती है, सबको वैसा ही नाच नचाती है। इस जीव को माया की अधिकृत भूमि से निकालकर आत्मा की अधिकृत भूमि में प्रवेश दिला देना, उसे आत्मा के संरक्षण में लाना अध्यात्म है। उसी इष्ट (आत्मा) के निर्देशन में चलते

हुए परमतत्त्व परमात्मा का दर्शन, स्पर्श, प्रवेश और उसी परमात्मा में स्थिति दिलाना अध्यात्म की पराकाष्ठा है, चरमोत्कृष्ट सीमा है। यह आत्मिक जागृति अत्यन्त दुर्लभ है, गोपनीय है। यह जागृति वाणी से कहने में या लेखनी से लिखने में नहीं आती, इसीलिए लोमशजी ने कहा–

राम चरित सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा।।

(रामचरितमानस, 7/112/11)

यह रामचरित अत्यन्त गुप्त है, परम मनोहर है, मन को बाँध रखने में सक्षम है। इसे हमने शंकरजी की कृपा से प्राप्त किया था।

तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी।।

(रामचरितमानस, 7/112/12)

हमने तुम्हें राम का अन्तरंग भक्त समझकर इसका विस्तार से वर्णन किया है, इसलिए तुम भी सदैव ध्यान रखना कि–

राम भगति जिन्ह कें उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिअ तिन्ह पाहीं।।

(रामचरितमानस, 7/112/13)

जिसके हृदय में राम की भक्ति न हो, उसे यह कभी मत कहना, भूलकर भी नहीं कहना। इतना ही नहीं, मानसकार तो यहाँ तक कहते हैं– **'कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि।'** आप ही बतायें, यहाँ जितने लोग बैठे हैं, सबमें क्या काम नहीं है? आपमें क्रोध है या नहीं? लोभ है, मोह है, राग है, द्वेष है.... जब यह विकार प्राणिमात्र में हैं तो कहा किससे जाय? यह सत्संग नहीं जो सुनने आप यहाँ बैठे हैं, महर्षि लोमश उस रामचरित को गुप्त कहते हैं जो केवल ऋषि-परम्परा में है, अधिकारी साधक के लिए है।

वैसे, यह पूरा का पूरा रामचरितमानस ब्रह्मविद्या भी है– **'बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि कलुष बिभंजनि।।'** ***(रामचरितमानस, 1/30/5)***– सामान्य जन इसे पढ़-सुन-समझकर प्रसन्न होते हैं तो बौद्धिक मनीषा को इसमें विश्राम मिलता है, साथ ही इसमें निहित ब्रह्मविद्या कलि-कलुष का उन्मूलन कर देनेवाली है। कथा एक, आयाम तीन!

रामचरितमानस के समस्त कथानकों का आध्यात्मिक पक्ष भी है। संकेत के रूप में महर्षि लोमश का आश्रम देखें– **'मेरु सिखर बट छायाँ मुनि लोमस आसीन।'** दिव्य सुमेरु पर्वत! हिमाच्छादित उन्नत शिखर! मानसरोवर से भी ऊँचाई की जलवायु में वटवृक्ष हो सकता है क्या? इसी प्रकार कागभुशुण्डिजी ने अपना निवास बनाया, वह भी पर्वत शिखर पर! उसकी चोटी पर जलाशय! तालाब में मणिखचित सीढ़ियाँ! पर्वत शिखर पर चार कोने पर चार वृक्ष! बीच में आश्रम! हंस ही वहाँ कथा श्रवण करने जाते थे।

कैसे हैं महापुरुषों के ये आश्रम! इनसे स्पष्ट होता है कि सृष्टि में आज तक जितने भी महापुरुष हुए हैं, जंगलों में, पर्वत-शिखरों पर हुए हैं, घरों में कभी नहीं। घरों में साधना होती है, भजन होता है। इसलिए सद्गृहस्थ आश्रमीय आप सब खेती करते हुए, खुरपी चलाते हुए, लड़का खिलाते-खेलाते हुए भगवान के दो-ढाई अक्षर के किसी नाम का जो सीधे उन प्रभु का परिचायक हो, जैसा हमारे गुरु महाराज कहते थे– राम या ओम् का जप करें। आप न काम छोड़ें, न क्रोध छोड़ें, न मोह छोड़ें! कुछ भी छोड़ने की जरूरत नहीं है। केवल एक प्रभु से रिश्ता जोड़ लें। आपको रास्ते की सही जानकारी होनी चाहिए। उस भगवत्-पथ को समझने के लिए आप सबको पढ़ना-सुनना-समझना होगा गीता, जिसका यथावत् भाष्य 'यथार्थ गीता' है। इसके पश्चात् आपको चाहिए सन्तों का सत्संग! इतने से ही आपको रास्ता मिल जायेगा। जहाँ भजन-साधन का स्तर उठा, फिर हम घर नहीं छोड़ेंगे, घर ही हमको छोड़ देगा। भगवत्-पथ से भागने का रास्ता नहीं मिलेगा। हम घर पर रहना चाहेंगे किन्तु जब रहने की जगह हो तब ना! भगवान जब कृपा करते हैं, घर छुड़ा देते हैं और तभी निवृत्तिवाला उन्नत श्रेणी का भजन आरम्भ होता है।

गुरु महाराजजी का कहना था, ''भगवान आदेश न दें तब तक घर छोड़ना पाप है और आदेश दे दें तो घर में रहना भी पाप है। मोके आदेश देके ही घर छुड़वाया है। हमार तनिकौ घर छोड़ै का मन नही रहा हो!'' महाराजजी बताते थे कि ''पहलवानी का अच्छा अभ्यास था। बढ़िया शरीर, बादाम-पिस्ता, पावभर घी और पाँच किलो दूध, आधा किलो बादाम रोज

छन रही थी। वह तो माँ मोरे पीछे पड़के जबरदस्ती ब्याह करा दिया और मेहरियो चिकन-चिकन गोर के रही, नगदै रही! लेकिन भगवान ने हमारा कान पकड़कर घर छुड़ा दिया। हो, मुझे भगवान ने साधु बनाया है, मैं सचहूँ के साधू हूँ।'' गुरु महाराजजी ने भी पकड़ा तो एकान्त! अपने शिष्यों को भेजा तो एकान्त जंगल! इसीलिए कबीर कहते हैं–

सद्‌गुरु की हाट अलग लागी।

सद्‌गुरु का निवास अलग-थलग, शान्त-एकान्त में है। उनके पास है क्या?–

वस्तु अमोल खोल गुरु बैठे...

उनके पास अनमोल वस्तु है जिसका मूल्य कोई चुका नहीं सकता। पूरा राज्य दे दें, सर्वस्व दे दें तब भी कीमत नहीं चुका पायेंगे। माता मीरा ने, कबीर ने, तुलसी ने इसकी बहुमूल्यता पर बल दिया– '**पायो जी मैं तो नाम रतन धन पायो। वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुर...**'। यदि राज और नौलखा हार देने से मिल जाता तो महारानी मीरा उसे खरीद लेतीं लेकिन उन्होंने निर्णय दिया, एक महारानी ने निर्णय दिया कि मेरे सद्‌गुरु ने अत्यन्त बहुमूल्य वस्तु प्रदान की है। गुरुजी ने क्यों दे दिया? तो '**किरपा करि अपनायो**' यह भी उनकी कृपा ही है। वास्तव में भजन एक जागृति है। राम-राम कोई जपता रहे किन्तु जब तक सद्‌गुरु हृदय से, आत्मा से अभिन्न होकर जागृत न हो जायँ, मार्गदर्शन न करने लगें, तब तक भजन आरम्भ ही नहीं हुआ। यह भजन की प्रवेशिका हो सकती है किन्तु पूर्ण निवृत्ति दिला देनेवाला भजन उसके पास नहीं है। वास्तव में सद्‌गुरु के शरण-सान्निध्य से, उनके निर्देशन के अनुसार साधना और टूटी-फूटी सेवा से वह सद्‌गुरु आपके हृदय से, आत्मा से अभिन्न होकर स्वयं ही प्रसारित हो जाते हैं, उपदेश देने लगते हैं। प्रभु मार्गदर्शन करने लगते हैं। आत्मा, परमात्मा, सद्‌गुरु– ये पर्यायवाची शब्द हैं। इसी को मीरा ने कहा कि यह अमोलक वस्तु है, मूल्य से नहीं मिलती, सद्‌गुरु ने करुणा और कृपा करके ही दी है। यही गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! हृदयस्थ ईश्वर की शरण जाओ। उनकी कृपा-प्रसाद से तुम परम शान्ति प्राप्त

कर लोगे और **'स्थानम् प्राप्स्यसि शाश्वतम्'** *(गीता, 18/62)* शाश्वत धाम पा जाओगे। तुम रहोगे, तुम्हारा निवास रहेगा, तुम्हारा जीवन रहेगा। वही जीवन सराहनीय है जिसके पीछे मृत्यु न हो; और यह सद्गुरु से सम्भव है। यही अनमोल वस्तु उनके पास है जिसे सबके लिए सुलभ करके उन्होंने रखा है। फिर भी सब उसे नहीं लेते– **'लेवेगा कोई बड़भागी'**– जन्म-जन्म से चले हुए पुण्यशील व्यक्ति ही उसे ले पाते हैं।

गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने कहा– यह बालक बहुत बड़ा महात्मा होगा या चक्रवर्ती सम्राट! राजा ने कहा– सम्राट हो जाये, लेकिन यह साधू न होने पाये, भिक्षु न होने पाये। लेकिन समय पर संस्कार ने, भाग्यरेखा ने काम किया, बुद्ध महापुरुष हो गये। इस प्रकार जिनके संस्कारों की रेखा कल्याण की दिशा पर है, ऐसे भाग्यशाली लोग ही उसे खरीदते हैं। सांसारिक लोग तो सद्गुरु के पास जाकर भी सांसारिक कामनाओं की याचना करते हैं कि महाराज! पुत्री का विवाह हो जाय, नौकरी में प्रमोशन हो जाय, नौकरी लग जाय, रोग ठीक हो जाय, सम्पत्ति चौगुनी हो जाय– वहीं तक उनकी समझ है। उन्हीं लोगों में से कोई-कोई अमोलक वस्तु माँगनेवाला होता है। यह बाहरी वस्तु माँगना गलत नहीं है, अमोलक वस्तु तो नहीं लिया, कुछ तो लेकर लौटे। एक संस्कार पड़ गया, वह व्यर्थ नहीं जायेगा। हाँ, बहुमूल्य वस्तु और उसके लिए एकान्त का सेवन संस्कारी पुरुष ही कर पाते हैं। तब तो वहाँ बहुत कम व्यापारी आते होंगे? संत कबीर कहते हैं– नहीं,

आये व्यापारी सौदा करि गये, जनम जनम के अनुरागी।

हाँ, दूर-दूर के व्यापारी वहाँ पहुँचे, सौदा किया और लेकर चले भी गये। कौन थे व्यापारी? कौन-सी रकम लेकर पहुँचे? वे थे **'जनम जनम के अनुरागी'**।

गुरु महाराज को तीन बार आकाशवाणी हुई। एक बार आकाशवाणी हुई– 'इन महात्मा को भोजन कराओ।' सामने से एक महात्मा हाथ में झण्डा लिये धीरे-धीरे दौड़ते हुए, 'सीताराम सीताराम' कहते हुए चले जा रहे थे।

ज्योंही वह महाराजजी के समीप से गुजरे, तभी महाराजजी को आकाशवाणी हुई कि इनको भोजन कराओ। महाराजजी का सिर चकरा गया, आवाज इतनी जोर की थी। महाराजजी पुलिया का सहारा लेकर थोड़ी देर में संयत हुए। समीप ही दो आदमी धान की निराई कर रहे थे। महाराजजी ने उनसे पूछा, ''आपलोगों ने कुछ सुना?'' वे बोले, ''यहाँ सुननेवाली कौन-सी बात थी? आप भी चुप हैं, हमलोग भी चुप हैं।'' महाराज जी ने सोचा, आवाज तो इतनी जोर की थी कि आधा किलोमीटर में सबको भली प्रकार सुन लेना चाहिए था। यह लोग पास में बैठे हैं, फिर भी इन्हें नहीं सुनाई पड़ा। लगता है यह कोई दैवी घटना है। कुछ भी हो, इन महात्मा को खिलाना चाहिए।

महाराजजी ने उनको सुबह से छः बजे शाम तक ढूँढ़ा, वह मिले ही नहीं। वह निराश होकर लौटने को थे कि महात्माजी दिखाई पड़ गये। महाराजजी ने उन्हें विधिवत् भोजन कराया।

जब वह एक कुटिला के निमन्त्रण पर रात को आठ बजे जा रहे थे। मन में द्वन्द्व चल रहा था कि मैं कभी डर रहा हूँ, कभी आगे बढ़ रहा हूँ, पाप तो नहीं करने जा रहा हूँ! बड़ी जोर से दूसरी आकाशवाणी हुई कि महान पाप करने जा रहे हो, घोर नरक में जाओगे। महाराजजी के रोयें फूट पड़े, प्रकृति में भय समा गया। पाँव मन-मन भर के हो गये, उठाने से भी नहीं उठ रहे थे जैसे उनके पाँव थे ही नहीं। आधा घण्टा में उन्हें थोड़ी शान्ति मिली तो चुपचाप बिना सोचे लौट पड़े। रास्ते में एक टूटे-फूटे मंदिर के पास आये कि तीसरी आकाशवाणी हुई कि इसमें तुम्हारे गुरु महाराज हैं। महाराजजी मंदिर के भीतर गये। धुप्प अँधेरा! भीतर कोई दिखाई नहीं पड़ा। उन्हें झुँझलाहट हुई कि पता नहीं कौन हमारे पीछे पड़ा है? कौन जोर से बोलता है? कौन धीरे से बोलता है। आकाशवाणी हुई थी कि इसमें गुरु महाराज हैं, किन्तु यहाँ तो कोई नहीं है। इतने में खाँसने की आवाज आयी। वह महापुरुष बैठे थे। महाराजजी ने प्रकाश की व्यवस्था की, तीन दिन-तीन रात उनकी सेवा में लगे ही रह गये। उनसे साधना का क्रम समझा और भजन में लगकर महाराजजी महाराज हो गये। फिर लौटकर घर नहीं गये।

हमने पूछा, ''महाराजजी! आपको आकाशवाणी क्यों हुई?'' वह बोले, ''यह शंका हमें भी थी। हमने भी भगवान से पूछा था तो भगवान ने बताया कि मैं पिछले सात जन्मों से लगातार साधु रहा हूँ। चार जन्म तो झूठ-मूठ का ही कमण्डल लेकर साधु-संन्यासियों के बीच घूम रहा हूँ। कहीं अगरबत्ती सुलगा रहा हूँ, कहीं किताब उलट रहा हूँ। विभूति भी लगायी है, तिलक भी लगाया हूँ लेकिन सब झूठ-मूठ का ही।'' हमने पूछा, ''झूठ से आपका क्या आशय है?'' उन्होंने बताया, ''उन दिनों हमें आता-जाता कुछ नहीं था। नाम जपता था, साधुओं जैसी बात भी कर लेता था, इन्द्रिय संयम भी पक्का था किन्तु भजन जागृत नहीं था। पिछले तीन जन्म से बढ़िया साधु रहा हूँ। इष्टदेव रथी थे, योग-साधना जागृत थी, जैसा कि एक साधु को होना चाहिए। निवृत्ति हो चली थी किन्तु मन में थोड़ा कुतर्क था कि यह शादी-विवाह क्या होता है? गाँजा पीकर लोग बहुत झूमते हैं, इसमें कौन-सा सुख है? थोड़ा देहाभिमान था कि मैं कुलीन हूँ, विद्वान हूँ, इत्यादि। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि देहाभिमानियों की गति नहीं होती। किन्तु विगत इन जन्मों में भी संयम का पक्का था। केवल इसी हल्की-सी मानसिक फिसलन से जन्म लेना पड़ा। और भगवान ने थोड़े ही समय में शादी-विवाह कराकर, दिखा-सुनाकर दो चटकना मारा कि यह पाप, यह पुण्य और यह गुरु महाराज और कर भजन।''

महाराजजी जा रहे थे काम की ओर लेकिन भगवान ने कान पकड़कर घुमा दिया राम की ओर। उन्होंने गुरु महाराज का भी परिचय दे दिया। महाराजजी बताते थे कि, ''उन गुरु महाराज को हमने पचासों बार पहले भी देखा था। लोग उन्हें पागल कहते थे। मैं भी वही समझता था किन्तु आकाशवाणी ने बताया कि यह तुम्हारे गुरु महाराज हैं। वास्तव में वह महापुरुष थे, सद्गुरु थे। उनके माध्यम से साधना जागृत हो गयी। चार महीने के अन्दर ही भजन जागृत हो गया। और जैसे कोई अपने घर के आंगन में अपना ही गड़ा धन पा जाय, अनायास ही भजन जागृत हो गया। भगवान श्वास-श्वास पर नियन्त्रण करने लगे, उठाने-बैठाने लगे, भजन पढ़ाने लगे, भजन कराने लगे।'' यह जन्म-जन्म का संस्कार था। जिसे इन पंक्तियों में कबीर ने कहा– **'जनम जनम के अनुरागी'**। महाराजजी सात जनम से अनुरागी थे। सृष्टि में लगाव

का नाम है राग और प्रभु के प्रति लगाव का नाम है अनुराग! इष्ट के अनुरूप लगाव अनुराग है। अगली पंक्ति में यह महापुरुष कहते हैं कि सौदा मिल ही गया तो साधक की साधना कैसी होती है?–

पड़े रहे मैदान गढ़ी में

वह मैदान में पड़े हैं। दीवाल एक भी नहीं है फिर भी किले में हैं। वास्तव में हृदय ही एक गढ़ी है जो सब ओर से चित्तवृत्ति को समेटकर सूरत को स्थिर करने से होता है। मनुष्य वहीं रहता है जहाँ उसका मन रहता है। कामना रहते हुए कोई शान्त-एकान्त में बैठ ही नहीं सकता। जैसी कामना होगी, मन उड़कर वहीं पहुँच जायेगा। इसलिए **'सकल कामना जिन त्यागी'।** कामनाओं के त्याग से ही यह स्थिति संभव है।

राजा भर्तृहरि, गोपीचन्द, पूरनमल इत्यादि सब के सब समकालीन राजपरिवार के थे। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् सोलह वर्ष की अल्पायु में गोपीचन्द को राज-काज सँभालना पड़ा। एक दिन वह शिकार से लौटा, उसने देखा, राजकीय उद्यान में तमाम सड़ँसे गड़े थे, धूने जल रहे थे। महान संत जलंधरनाथ अपनी शिष्य-मंडली के साथ वहाँ विश्राम कर रहे थे क्योंकि राजपरिवार पहले से ही उनका शिष्य था। उद्यान में इतने महात्माओं को देख गोपीचन्द बिगड़ा, ''यह क्या! बगीचे का सर्वनाश कर दिया।'' उसने सिपाहियों को डाँट लगायी, ''इस बाबा को कुँए में फेंक दो।'' वह आदेश देकर महलों में चला गया। दासियाँ चन्दनमिश्रित जल से उसे स्नान करा रही थीं। उसकी माँ ऊपर दूसरी मंजिल में खड़ी रो रही थी। उसके आँसू टपक रहे थे। आँसू की बूँदें उसके ऊपर गिरीं तो माँ की ओर उसने देखा, ''आपकी आँखों में आँसू!'' माँ ने कहा, ''हाँ बेटा! मैं दुःखी हूँ।'' गोपीचन्द ने कहा, ''आप आदेश दें, मैं पहले दुःख दूर करूँगा, स्नान बाद में होगा।'' माँ ने कहा, ''हाँ, दुःख भी तुमको ही दूर करना है।'' जब गोपीचन्द ने कहा कि, ''मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अवश्य आपका दुःख दूर करूँगा।'', तो माँ ने कहा, ''बेटा! ये कंचन-जैसी काया जो आज सहलायी-नहलायी जा रही है, यह कल खाक में मिल जायेगी। इसी का हमें दुःख है।'' गोपीचन्द ने

कहा, ''माँ! इसका उपाय क्या है?'' माँ ने कहा, ''गुरु जलंधरनाथजी की शरण में जाओ।'' गोपीचन्द ने कहा, ''एक जलंधरनाथ को तो मैं कुएँ में फेंक आया हूँ।'' उसकी माँ घबड़ाकर भागी। उसने जलंधरनाथजी को कुएँ से निकलवाया, उनसे क्षमा-याचना की। शिष्य गोरखनाथजी के अनुरोध और प्रयासों से जलंधरनाथजी ने गोपीचन्द को क्षमा करते हुए उसे अपना शिष्य बना लिया और कहा, ''जाकर अपनी माँ से भिक्षा माँग लाओ।''

गोपीचन्द माँ के पास पहुँचे। माता ने भिक्षा में पाँच शिक्षायें दी– किले में रहना, मसहरी में सोना, मोहनभोग खाना, सूली पर चढ़ जाना और परिवार बदलकर रहना। गोपीचन्द ने विचार किया कि महल तो छूट गया, दूसरों के टुकड़े पर आश्रित हो गये, मोहनभोग कहाँ मिलेगा? वह बोले, ''माताजी! इसका अर्थ क्या हुआ?'' उसकी माता मैनावती ने कहा, ''इसे अपने गुरुदेव से पूछना।''

उसने गुरुदेवजी से कहा, ''गुरुदेव भिक्षा में यही पाँच बातें मिली हैं और कहा है कि इसका अर्थ गुरुजी से पूछ लेना। आप ही बताइये, अब किले में रहना कैसे सम्भव है?'' गुरुदेव बोले, ''देखो! संसार में किले तो बनते-बिगड़ते रहते हैं। आज जो किला तुम्हारा है, किसी ने जीत लिया तो उसका होगा। तुम्हारा निज किला है तुम्हारा हृदय। मनुष्य वहीं रहता है जहाँ उसकी चित्तवृत्ति है। इसलिए मन से इन्द्रियों को संयमित करके चित्तवृत्तियों को श्वास में लगाओ, सुरत को हृदय में स्थिर करते हुए स्वरूप, इष्ट के चरणों में लगाओ। यदि सुरत टिक जायेगी तो तुम वहीं निवास करोगे। सदा अन्तर्मुखी रहना, बाहर मत निकलना। यही है किले में रहना।''

गोपीचन्द ने पूछा, ''और गुरुदेव, मसहरी में सोना?'' जलंधरनाथ ने कहा, ''संसार में माया के कीटाणु, राग-द्वेष, इच्छा-वासना के कीटाणु संगदोष से उड़ा ही करते हैं इसलिए सदैव संयम की मसहरी के अन्दर रहना।''

गोपीचन्द ने कहा, ''भगवन्! मोहनभोग?'' गुरुदेव ने कहा कि ''जब तीव्र भूख का अनुभव हो, चौबीस घण्टे में एक बार, सूखी रोटी खाओगे तब भी हजम हो जायेगी, तुम्हें रस मिलेगा। शरीर को जितनी मात्रा में शक्ति

चाहिये, वह सब मिलेगी, तुम बीमार कभी नहीं पड़ोगे और स्वस्थ शरीर से तुम्हें भजन में निरन्तर लगने का पूरा अवसर मिलेगा। भूख लगने पर स्वल्प भोजन ही मोहनभोग है।''

शिष्य ने पूछा, ''और शूली पर चढ़ जाना?'' गुरु ने बताया, ''सन्तों ने कहा है– **'ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥'** ***(रामचरितमानस, 7/118/1)***– ज्ञान का पंथ तलवार की धार पर चलना है। इसी को किसी ने खाड़ें की धार कहा है– **'मुश्किल अगम पंथ का चलना, धारा खाड़ें छूरों का।'** किसी ने इसे शूली कहा है– **'सूली ऊपर सेज हमारी....'**। सिर कटाना आसान है, साधू होना कठिन है–

शूरा होना सुगम है, घड़ी पहर का काम।
साधू होना कठिन है, आठ पहर संग्राम॥

यह भजन का पंथ बहुत दृढ़ता का पथ है, कृपाण की धारा पर चलने जैसा है। इस व्रत को लेना शूली पर चढ़ने जैसा है।''

गोपीचन्द ने पूछा, ''और परिवार बदलकर रहना?'' जलंधरनाथ जी ने कहा, ''बेटा, भूल जाओ कि हमारी माता कौन? पिता कौन? अब अपना परिवार बदलो। अब ज्ञान ही पिता है, भक्ति ही माता है। तुम्हारे सहज स्वरूप की जागृति और स्वरूप की प्राप्ति भक्ति से है इसलिए भक्ति ही माता है। इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति अर्थात् वृत्ति ही बहन है। विवेक-वैराग्य-शम-दम– ये निरन्तर तुम्हारा साथ देनेवाले सगे-सहोदर भाई हैं और इन्हीं के सहारे चलकर तुम्हें अपने स्वरूप को प्राप्त करना है। यही परिवार बदलकर रहना है।''

सारांशतः जनम-जनम के पथिक जब सद्गुरु से भली प्रकार सौदा प्राप्त कर लिये तो मन भजन में ही लग गया, **'सकल कामना जिन त्यागी'**। महाराजजी कहते थे, ''हो! चार महीने में ही मन भजन में लग गया, कोई बगल में आकर बैठ जाय तो उससे बात करने का मन ही न करे, उसे देखने की इच्छा न हो। मन करे कि यह कब यहाँ से उठकर चला जाय। एक बार सुरत लग गयी तो मन करे कि दिन-रात ऐसे ही डूबा रहूँ। सुरत श्वास में

टँगी रहे और मैं बैठा रहूँ।'' कामना ही हमें भटकाती है। जब उसका त्याग हो गया तो सन्त कबीर कहते हैं–

कहे कबीर सुनो भाई साधो, भगति भीख उनसे माँगी।

सद्गुरु की शरण में जाने पर कदाचित् कुछ माँगना ही पड़े तो उनसे भक्ति की भीख माँगो। विभक्ति माने होता है विभाजन, 'अलगौझी'। भक्ति माने दर्शन-स्पर्श-प्रवेश, उन परमात्मा से मिल जाना, उनके तद्रूप स्थिति पाना। इसलिए कदाचित् माँगना ही हो तो भक्ति की भिक्षा माँगनी चाहिए। यह सद्गुरुओं की हाट संसार से अलग-थलग शान्त-एकान्त जंगल में हुआ करती है। साधना के लिये दिन के चौबीसों घण्टे, वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिन निरन्तर एकान्त चाहिए। जो साधक दो दिन भजन और तीसरे दिन बाजार में दिखाई पड़े वह दो-चार जन्म का झटका अवश्य खा जायेगा। संत कबीर का यह भजन ठीक वैसा ही है जो गीता का सिद्धान्त है। यह है तो सधुक्कड़ी भाषा में किन्तु तथ्य गीता के ही उद्घाटित होते हैं। गीता ने जो सत्य बताया, उसके बाहर आज तक किसी ने कुछ कहा ही नहीं। इसे यथावत् समझने के लिए देखें– गीताभाष्य 'यथार्थ गीता'!

॥ बोलिये श्रीगुरुदेव भगवान की जय ॥

'श्रीमद्भगवद्गीता' की साधना

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। (१३/२२)

वह पुरुष **'उपद्रष्टा'**– हृदय-देश में बहुत ही समीप, हाथ-पाँव-मन जितना आपके समीप है उससे भी अधिक समीप द्रष्टा के रूप में स्थित है। उसके प्रकाश में आप भला करें, बुरा करें, उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह साक्षी के रूप में खड़ा है। साधना का सही क्रम पकड़ में आने पर पथिक कुछ ऊपर उठा, उसकी ओर बढ़ा तो द्रष्टा पुरुष का क्रम बदल जाता है, वह **'अनुमन्ता'**– अनुमति प्रदान करने लगता है, अनुभव देने लगता है। साधना द्वारा और समीप पहुँचने पर वही पुरुष **'भर्ता'** बनकर भरण-पोषण करने लगता है, जिसमें आपके योगक्षेम की भी व्यवस्था कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही **'भोक्ता'** हो जाता है। **'भोक्तारं यज्ञ तपसाम्'**– यज्ञ, तप जो कुछ भी बन पड़ता है, सबको वह पुरुष ग्रहण करता है। और जब ग्रहण कर लेता है, उसके बाद वाली अवस्था में **'महेश्वरः'**– महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है; किन्तु अभी कहीं प्रकृति जीवित है तभी उसका मालिक है। इससे भी उन्नत अवस्था में वही पुरुष **'परमात्मेति चाप्युक्तो'**– जब परम से संयुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी यह पुरुष आत्मा **'परः'** ही है, सर्वथा इस प्रकृति से परे ही है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में यह द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते परम का स्पर्श कर परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है।

– 'श्रीमद्भगवद्गीता' भाष्य 'यथार्थ गीता' से साभार

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो स्टेट, गाला नं– 5,
मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी (पूर्व), भारत – 400069
दूरभाष– 022–28255300
ई–मेल– contact@yatharthgeeta.com ○ वेबसाइट– www.yatharthgeeta.com